शिवनंदन पासवान

बनाम

बिहार राज्य एवं अन्य

16 दिसम्बर, 1982

[वी. डी. तुलजापुरकर, बहारुल इस्लाम तथा आर. बी. मिश्र, न्यायमूर्तिगण]

क. *मुकदमा चलाने की इच्छा न होना — दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 321 के अंतर्गत शक्ति की प्रकृति तथा दायरा — अपने कर्तव्यों के निर्वहन में क्या लोक अभियोजक, जो सदैव सरकार द्वारा निर्देशित होता है, स्वतंत्र तथा निष्पक्ष कहा जा सकता है।*

ख. *विशेष लोक अभियोजक, नियुक्ति — मामले का संचालन करने हेतु विशेष लोक अभियोजक की नियुक्ति पूर्व नियुक्ति की रद्दीकरण के बिना — बाद में नियुक्त व्यक्ति द्वारा मामले के प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने की सक्षमता, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973, धाराएँ 24(8) तथा 321।*

ग. *दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 — धारा 321 — अभियोजन से प्रत्याहरण के आधार — क्या आधार जैसे (क) अभियुक्त का व्यक्तिगत तथा राजनीतिक विद्वेष के फलस्वरूप फंसाया जाना, (ख) राज्य तथा लोक नीति के कारणों से अभियोजन की अनुपयुक्तता तथा (ग) अभियोजन जारी रखने से लोक हित पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभाव आदि अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु प्रासंगिक होंगे।*

घ. *मुकदमा चलाने की इच्छा न होना — अभियुक्त पर आपराधिक कदाचार तथा जालसाजी के अपराधों का आरोप — अभिलेख पर साक्ष्य के प्रकाश में सफल अभियोजन की संभावना के अभाव के आधार पर प्रत्याहरण हेतु आवेदन पर अनुमति — उच्च न्यायालय द्वारा उक्त आदेश की पुष्टि — सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 136 के अंतर्गत हस्तक्षेप।*

दिनांक 19 फरवरी, 1979 को राज्यपाल से आवश्यक स्वीकृति प्राप्त करने के पश्चात् बिहार राज्य द्वारा निगरानी थाना कांड सं. 9 (2) 78 में उत्तरदाता सं. 2 (डॉ. जगन्नाथ मिश्र), उत्तरदाता सं. 3 (नवल किशोर सिन्हा), उत्तरदाता सं. 4 (जीवानंद झा) तथा तीन अन्य (के. पी. गुप्ता जो मृत्यु हो चुकी है, एम. ए. हैदरी तथा ए. के. सिंह जो बाद में अभियोजन पक्ष के साक्षी बन गए) के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धाराओं 420/466/471/109/120-बी तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(1)(क), 5(1)(ख) तथा 5(1)(घ) को धारा 5(2) के साथ पठित अपराधों के लिए आरोप-पत्र दाखिल किया गया। अन्य बातों के साथ-साथ उत्तरदाता सं. 2 के विरुद्ध आरोप का मुख्य आधार यह था कि सभी प्रासंगिक समय में वे बिहार के मुख्य मंत्री थे तथा उस हैसियत से भ्रष्ट या अवैध साधनों द्वारा या अन्यथा लोक सेवक के रूप में अपनी स्थिति का दुरुपयोग कर अन्य अभियुक्तों के साथ मिलीभगत से तथा विशेष रूप से नवल किशोर सिन्हा की रक्षा करने के उद्देश्य से नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों के विरुद्ध आपराधिक अभियोजन तथा अधिभार कार्यवाहियों को विफल करने का प्रयास किया तथा स्वयं के लिए या उनके लिए आर्थिक लाभ प्राप्त किया या प्रदान किया तथा पटना शहरी सहकारी बैंक, उसके सदस्यों, निक्षेपकों तथा लेनदारों को हानि पहुँचाई तथा इस प्रकार भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(1)(घ) को धारा 5(2) के साथ पठित आपराधिक कदाचार का अपराध किया तथा इस प्रक्रिया में आरोप-पत्र में निर्दिष्ट अन्य अपराध किए जिनमें भारतीय दंड संहिता की धारा 466 के अंतर्गत जालसाजी का अपराध शामिल है। मामले का संज्ञान दिनांक 21 नवम्बर, 1979 को विद्वान मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी-सह-विशेष न्यायाधीश (निगरानी), पटना द्वारा लिया गया जिन्होंने अभियुक्तों के विरुद्ध प्रक्रिया जारी की किन्तु विचारण प्रारंभ होने से पूर्व राज्य सरकार ने उत्तरदाता सं. 2 के इशारे पर जो इस बीच सत्ता में आ गए थे तथा मुख्य मंत्री बन गए थे फरवरी, 1981 में राज्य तथा लोक नीति के कारणों से अभियोजन से प्रत्याहरण करने का निर्णय लिया। यद्यपि प्रारंभ में श्री अवधेश कुमार दत्त, वरिष्ठ अधिवक्ता

पटना उच्च न्यायालय को पूर्ववर्ती सरकार द्वारा मामले के संचालन हेतु विशेष लोक अभियोजक नियुक्त किया गया था राज्य सरकार (अब उत्तरदाता सं. 2 के नेतृत्व में) ने श्री दत्त की विशेष लोक अभियोजक के रूप में नियुक्ति रद्द किए बिना दिनांक 24 फरवरी, 1981 को निगरानी विभाग से संबंधित मामलों के संचालन हेतु अधिवक्ताओं का नया पैनल गठित किया। श्री ललन प्रसाद सिन्हा, जिन्हें उक्त पैनल पर नियुक्त किया गया था, को सरकार के उक्त निर्णय की सूचना दी गई तथा दिनांक 26 मार्च, 1981 को उनसे आगे यह अनुरोध किया गया कि वे मामले पर विचार करने तथा उसके संबंध में स्वयं संतुष्ट होने के पश्चात् मामले के प्रत्याहरण हेतु कदम उठाएँ। दिनांक 17 जून, 1981 को श्री ललन प्रसाद सिन्हा ने दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत विशेष न्यायाधीश के समक्ष आवेदन किया जिसमें मामले में उत्तरदाताओं सं. 2, 3 तथा 4 के अभियोजन से प्रत्याहरण की अनुमति मांगी गई आधारों पर कि (क) अभिलेख पर साक्ष्य के प्रकाश में सफल अभियोजन की संभावना का अभाव, (ख) व्यक्तियों का राजनीतिक तथा व्यक्तिगत विद्वेष के फलस्वरूप फंसाया जाना, (ग) राज्य तथा लोक नीति के कारणों से अभियोजन की अनुपयुक्तता तथा (घ) परिवर्तित स्थिति के प्रकाश में अभियोजन जारी रखने से लोक हित पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभाव। विद्वान विशेष न्यायाधीश ने दिनांक 20 जून, 1981 के अपने आदेश द्वारा अनुमति प्रदान की। अपीलकर्ता द्वारा उक्त आदेश के विरुद्ध दायर आपराधिक पुनरीक्षण सं. 874/81 को उच्च न्यायालय द्वारा दिनांक 14 सितम्बर, 1981 को प्रारंभिक रूप से खारिज कर दिया गया। इसलिए विशेष अनुमति द्वारा अपील।

अपील स्वीकार करते हुए न्यायालय ने—

अभिनिर्धारित किया : (i) ललन प्रसाद सिन्हा अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने के सक्षम अधिकारी थे क्योंकि उनकी नियुक्ति में कोई दोष नहीं था।

(ii) उन्होंने अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने से पूर्व अपना मन लगाया तथा स्वयं के निष्कर्ष पर पहुँचे थे।

बहुमत से (बहारुल इस्लाम तथा मिश्र, न्यायमूर्ति, तुलजापुरकर, न्यायमूर्ति असहमत)

लोक अभियोजक का कार्यपालकीय कार्य तथा प्रत्याहरण के लिए अपनी सहमति देने में विचारण न्यायालय का पर्यवेक्षी कार्य उचित रूप से संपादित किया गया है तथा किसी अवैधता से दूषित नहीं है।[143 ई-158 ए]

तुलजापुरकर, न्यायमूर्ति (बहारुल इस्लाम तथा मिश्र, न्यायमूर्ति के साथ सहमत)

1:1 श्री ललन प्रसाद सिन्हा अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने के सक्षम अधिकारी थे। [84 ई,85 एफ]

2:2 यह सत्य है कि वर्तमान मामले में पूर्ववर्ती सरकार द्वारा मामले के संचालन हेतु नियुक्त पूर्व अभियोजक की नियुक्ति रद्द नहीं की गई थी यद्यपि समीचीनता में उसे रद्द किया जाना चाहिए था किन्तु इससे नई सरकार को लोक अभियोजक की नई नियुक्ति करने तथा उसे मामले का प्रभारी बनाने से नहीं रोका गया। लोक अभियोजकों की नियुक्तियाँ सामान्यतः दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 24(3) के अंतर्गत आती हैं किन्तु जब राज्य सरकार किसी मामले या मामलों के वर्ग के प्रयोजन से लोक अभियोजक नियुक्त करती है तो नियुक्त व्यक्ति संहिता की धारा 24(8) के अंतर्गत विशेष लोक अभियोजक बन जाते हैं। [85 बी–डी]

1:2 आगे यह विवादित नहीं किया जा सकता कि पूर्व अभियोजक ने सुनवाई के किसी स्तर पर विशेष न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित न होकर कभी मामले का प्रभार नहीं लिया था न ही मामले का वास्तविक संचालन किया था; इसके विपरीत मामले के उसके लिए आवंटन के पश्चात् उत्तरवर्ती व्यक्ति मामले का प्रभारी था तथा वास्तविक रूप से मामले का संचालन कर रहा था क्योंकि उसने कम से कम चार अवसरों पर विशेष न्यायाधीश के समक्ष मामले में उपस्थित होना स्वीकार किया है। [85 डी–एफ]

पंजाब राज्य बनाम सुरजीत सिंह एवं अन्य, 1967 2 एस.सी.आर. 347; एम.एन.एस. नायर बनाम पी.वी. बालकृष्णन एवं अन्य, 1972 2 एस.सी.आर. 599 – इन पर भरोसा किया गया।

1:3 यह सत्य है कि वर्तमान मामले में राज्य सरकार ने अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन से प्रत्याहरण करने का अपना निर्णय लिया था तथा यह भी सत्य है कि उक्त निर्णय लोक अभियोजक को सूचित किया गया था किन्तु यदि निर्णय की सूचना देने वाले पत्रों की सावधानीपूर्वक जाँच की जाए तो स्पष्ट होगा कि राज्य सरकार ने उसे (जिसके लिए वह हकदार थी) मात्र अभियोजन से प्रत्याहरण करने का सुझाव दिया था किन्तु साथ ही उसे मामले पर स्वयं विचार करने तथा उसके संबंध में स्वयं संतुष्ट होने के पश्चात् आवश्यक आवेदन करने को कहा था जो उसने किया तथा आवेदन में पाई जाने वाली पुनरुक्ति पर संदेह करने की कोई सामग्री नहीं है कि उसने स्वयं मामले से संबद्ध प्रासंगिक सामग्री पर विचार किया था तथा उस संबंध में स्वयं के निष्कर्ष पर पहुँचा था। [86 डी–एफ]

2. सर्वोच्च न्यायालय द्वारा धारा 321 में निहित शक्ति के उचित प्रयोग को शासित करने वाली विधिक स्थिति के प्रतिपादन से तीन या चार बातें स्पष्ट हो गईं :

(i) यद्यपि अभियोजन से प्रत्याहरण लोक अभियोजक का कार्यपालकीय कार्य है जिसके लिए उसमें विधिक विवेक निहित है किन्तु विवेक न निरपेक्ष है न अपरीक्ष्य अपितु वह न्यायालय के पर्यवेक्षी कार्य के अधीन है। वस्तुतः कार्यपालकीय कार्य होने के कारण वह किसी अन्य कार्यपालकीय कार्यवाही की भाँति कुछ सीमित आधारों पर न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन होगा; जिस प्राधिकारी में विवेक निहित है "उसे मामले पर वास्तव में स्वयं ध्यान देना चाहिए, किसी अन्य निकाय के आदेशों के अधीन कार्य नहीं करना चाहिए, जो करने से उसे निषिद्ध किया गया है उसे नहीं करना चाहिए, सद्भावी रूप से कार्य करना चाहिए, सभी प्रासंगिक विचारों को ध्यान में रखना चाहिए तथा अप्रासंगिक विचारों से प्रभावित नहीं होना चाहिए, विधान के अक्षर या भावना से भिन्न प्रयोजनों को बढ़ावा देने का प्रयास नहीं करना चाहिए तथा मनमाने या उतावले ढंग से कार्य नहीं करना चाहिए।" [81 ई–एच, 82 ए]

कंडिका

(ii) विचारण न्यायालय का प्रत्याहरण के लिए सहमति देने या देने से इंकार करने का पर्यवेक्षी कार्य न्यायिक कार्य होने के कारण पुरानी तथा वर्तमान दंड प्रक्रिया संहिता दोनों के अंतर्गत उच्च न्यायालय के पुनरीक्षण शक्तियों के अधीन सुधार योग्य है तथा स्वाभाविक रूप से सर्वोच्च न्यायालय को विशेष अनुमति द्वारा या उच्च न्यायालय द्वारा प्रमाण-पत्र पर पसंद की गई अपील में उच्च न्यायालय से कम से कम व्यापक क्षेत्राधिकार होगा। [82 बी–डी]

(iii) धारा 321 के प्रयोजनों हेतु सर्वोच्च न्यायालय द्वारा एक ओर राजनीतिक अपराधों तथा दूसरी ओर सामान्य विधि अपराधों के बीच कोई द्विभाजन नहीं किया गया कहा जा सकता है क्योंकि राजनीतिक अपराध कहलाने वाले या समरूप अपराधों में भी सामान्य विधि अपराध किए जाते हैं जिनके अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु धारा 321 की शक्ति का सहारा लेना पड़ता है। किन्तु निर्णय यह प्रतिपादित करते हैं कि जब सामान्य विधि अपराध राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं या विचारों से प्रेरित हों या वे या उनके पश्चात् जन आंदोलनों, सांप्रदायिक उन्मादों, क्षेत्रीय विवादों, औद्योगिक संघर्षों, छात्र अशांति या समरूप स्थितियों में भावनात्मक मुद्दों से उत्पन्न हिंसा से भरे वातावरण में किए जाते हैं तो लोक न्याय, लोक व्यवस्था तथा शांति का व्यापक कारण किसी विशेष मुकदमे में आपराधिक न्याय प्रशासन के लोक हित पर भारी पड़ सकता है तथा दोषसिद्धि की निश्चितता के बावजूद उस मुकदमे के अभियोजन से प्रत्याहरण आवश्यक हो जाता है तथा विधि की पुष्टि के नाम पर अभियोजन में दृढ़ता प्रतिकारी सिद्ध हो सकती है। दूसरे शब्दों में ऐसे दो प्रकार के लोक हितों के संघर्ष की स्थिति में संकीर्ण लोक हित को व्यापक लोक हित के आगे झुकना चाहिए तथा इसलिए प्रत्याहरण के लिए सहमति देने या देने से इंकार करने में प्रत्येक मामले में कौन-सा लोक हित प्रबल होना चाहिए इसका भारपूर्ण कर्तव्य न्यायालय पर डाला गया है। क्योंकि यह अवश्यंभावी नहीं है कि जब भी अपराध राजनीतिक रूप से प्रेरित हो या विस्फोटक स्थिति में भावनात्मक मुद्दों से उत्पन्न हो तो अभियोजन प्रत्याहृत किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में

ऐसे संघर्ष के प्रत्येक मामले में न्यायालय को विवेकपूर्ण ढंग से भारित कर निर्णय करना होता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि जब तक प्रश्नगत अपराध स्वयं राजनीतिक अपराध जैसे राजद्रोह न हों या राजनीतिक विचारों से प्रेरित न हों या जन आंदोलनों, सांप्रदायिक उन्मादों, क्षेत्रीय विवादों, औद्योगिक संघर्षों, छात्र अशांति या समरूप स्थितियों में हिंसा से भरे वातावरण में उत्पन्न भावनात्मक मुद्दों में किए या उनके पश्चात् किए गए न हों तब तक लोक न्याय, लोक व्यवस्था या शांति के किसी व्यापक कारण की सेवा का प्रश्न ही नहीं उठता तथा उसके अभाव में किसी दिए गए मामले में आपराधिक न्याय प्रशासन के लोक हित को बलिदान नहीं दिया जा सकता विशेष रूप से जब अपराध में कोई उच्च पदस्थ व्यक्ति कथित रूप से संलिप्त हो क्योंकि अन्यथा सामान्य व्यक्ति का विधि के शासन तथा लोकतांत्रिक मूल्यों में विश्वास डगमगा जाएगा। [82 डी–एच, 83 ए–डी]

(iv) जब साक्ष्य की कमी या सफल अभियोजन की संभावना का अभाव प्रत्याहरण का आधार हो तो न्यायालय को न केवल शक्ति अपितु कर्तव्य है कि वह अभिलेख पर सामग्री की जाँच करे बिना जिसके ऐसे आधार की वैधता तथा समीचीनता निर्धारित नहीं की जा सकती। [83 डी–ई]

बिहार राज्य बनाम राम नरेश पांडेय, 1957 एस.सी.आर. 279; *ओडिशा राज्य बनाम चंद्रिका मोहापात्र एवं अन्य*, 1977 1 एस.सी.आर. 335; *बलवंत सिंह एवं अन्य बनाम बिहार राज्य*, 1978 1 एस.सी.आर. 604; *आर. के. जैन बनाम राज्य*, 1980 3 एस.सी.आर. 982; *एम.एन.एस. नायर बनाम पी.वी. बालकृष्णन एवं अन्य*, 1972 2 एस.सी.आर. 599 – संदर्भित।

3:1 विधिक सिद्धांतों के प्रकाश में यह स्पष्ट होगा कि यह निगरानी थाना कांड सं. 9 (2) (78) एक सामान्य आपराधिक मामला है जिसमें सामान्य विधि अपराधों रिश्वतखोरी तथा जालसाजी का कमीशन सामान्य नैतिक परिस्थितियों में स्वार्थवृद्धि या पक्षपात को प्रेरक शक्ति के रूप में शामिल है इसलिए प्रत्याहरण हेतु आवेदन में उल्लिखित आधार (ख), (ग)

तथा (घ) प्रत्याहरण के मुद्दे से अप्रासंगिक तथा बाह्य थे तथा चूँकि स्वीकारोक्ति से ये विचार लोक अभियोजक द्वारा प्रत्याहरण मांगने के निर्णय तथा विचारण न्यायालय द्वारा अनुमति देने के निर्णय को निर्विवाद रूप से प्रभावित करने वाले थे इसलिए निगरानी थाना कांड सं. 9 (2) (78) का अभियोजन से आक्षेपित प्रत्याहरण विधि में दूषित माना जाएगा। [87 एच, 88 ए, जी–एच, 89 ए–बी]

3:2 स्वीकार्य रूप से उत्तरदाता सं. 2 द्वारा अन्य अभियुक्तों के साथ मिलीभगत से किए गए कहे जाने वाले रिश्वतखोरी (आपराधिक कदाचार) तथा जालसाजी के अपराध सामान्य विधि अपराध हैं तथा वे किसी जन आंदोलन या सांप्रदायिक उन्माद या क्षेत्रीय विवाद या औद्योगिक संघर्ष या छात्र अशांति या समरूप विस्फोटक स्थिति में भावनात्मक मुद्दों से उत्पन्न हिंसा से भरे किसी वातावरण में किए गए या उनके पश्चात् किए गए नहीं थे; आगे यह विवादित नहीं किया जा सकता कि ये स्वयं राजनीतिक अपराध नहीं हैं न ही किसी राजनीतिक प्रेरणा से किए गए थे; वस्तुतः उनके पीछे की प्रेरक शक्ति मात्र श्री नवल किशोर सिन्हा, एक निकट मित्र, को आपराधिक तथा दीवानी दायित्व से संरक्षण तथा ढाल प्रदान करना था—एक पक्षपात जो उत्तरदाता सं. 2 द्वारा बिहार के मंत्री या मुख्य मंत्री के रूप में अपनी स्थिति का दुरुपयोग कर कथित रूप से आपराधिक कदाचार के रूप में लिप्त किया गया। इसलिए यदि अपराधों में कोई राजनीतिक चरित्र नहीं था न ही वे किसी विस्फोटक स्थिति में भावनात्मक मुद्दों से उत्पन्न हिंसा से भरे वातावरण में किए गए या उनके पश्चात् किए गए थे तो लोक न्याय, लोक व्यवस्था या शांति की किसी व्यापक सेवा का प्रश्न ही नहीं उठता तथा उसके अभाव में इस विशेष मामले में आपराधिक न्याय प्रशासन के लोक हित को बलिदान नहीं दिया जा सकता था। [88 सी–एफ]

3:3 चुनाव के किसी परिणाम को, चाहे वह कितना भी व्यापक हो, उन व्यक्तियों द्वारा कथित रूप से किए गए सामान्य विधि अपराधों को माफ करने या समझौता करने के जनता के जनादेश के रूप में व्याख्या नहीं किया जा सकता जिन्हें सत्ता में पुनः निर्वाचित किया

गया है; वस्तुतः जनादेश की ऐसी व्याख्या सभी लोकतांत्रिक सिद्धांतों के विरुद्ध होगी। चुनावी सफलता सभी गंदगी को कालीन के नीचे छिपाने तथा फलों का निश्चिंत उपभोग करने की लाइसेंस नहीं है। इसलिए चुनावों द्वारा उत्पन्न स्थिति परिवर्तन के उत्तरदाता सं. 2 को मुख्य मंत्री के रूप में सत्ता में लाने तथा राज्य प्रमुख के विरुद्ध अभियोजन से लोक हित जिसमें लोक व्यवस्था तथा शांति शामिल है पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने का अभिवचन विस्थापित है। सबसे खराब स्थिति में जो हो सकता है वह यह है कि उत्तरदाता सं. 2 को पद त्यागना पड़ेगा तथा इससे अधिक कुछ नहीं। सरकार के अस्थिरीकरण का कोई भय पूर्णतः विस्थापित है। इसके विपरीत ऐसे अपराधों के अभियोजन से प्रत्याहरण आपराधिक न्याय प्रशासन के सामान्य क्रम में हस्तक्षेप करेगा तथा चूँकि उत्तरदाता सं. 2 उच्च पद पर स्थित हैं यह विधि के शासन तथा न्याय प्रशासन में सामान्य व्यक्ति के विश्वास को प्रभावित करने के लिए बाध्य है। आगे यदि उत्तरदाता सं. 2 द्वारा अन्य अभियुक्तों के साथ मिलीभगत से किए गए कहे जाने वाले अपराध निर्विवाद तथा प्रामाणिक दस्तावेजी साक्ष्य पर आधारित हैं तो राजनीतिक तथा व्यक्तिगत विद्वेष या अनुचित तथा अति उत्साही जाँच का प्रश्न ही नहीं उठता। [89 डी–एच, 90 ए]

3:4 दस्तावेजी साक्ष्य जिसमें लेखा परीक्षा प्रतिवेदन, संबंधित संचिका में प्रासंगिक टिप्पणियाँ तथा उत्तरदाता सं. 2 के दो आदेश शामिल हैं जिनकी प्रामाणिकता पर संदेह नहीं किया जा सकता स्पष्ट रूप से उत्तरदाता सं. 2 के विरुद्ध भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(1)(घ) को धारा 5(2) के साथ पठित आपराधिक कदाचार के अपराध के लिए विचारण में डालने हेतु पर्याप्त *प्रथम दृष्टया* मामला बनाते हैं। इसी प्रकार द्वितीय आदेश को पूर्वतिथि करने के लिए भारतीय दंड संहिता की धारा 466 के अंतर्गत जालसाजी का आनुषंगिक अपराध है। इसलिए "साक्ष्य की कमी" का प्रश्न ही नहीं उठता। विचारण न्यायालय ने इसलिए प्रत्याहरण की अनुमति देने से पूर्व इसकी जाँच करने में अपना कर्तव्य निभाने में असफल रहा। [101 सी–ई,एच,102 ए]

3:5 लोक अभियोजक के कार्यपालकीय कार्य तथा विचारण न्यायालय के पर्यवेक्षी न्यायिक कार्य से संलग्न एक अन्य विधिक दुर्बलता जो अंतिम आदेश को दूषित करेगी वह यह है कि जबकि आरोप-पत्र भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5(1) के उपखंड (क), (ख) तथा (घ) को धारा 5(2) के साथ पठित तथा दंड संहिता के अन्य अपराधों के अंतर्गत है प्रत्याहरण हेतु आवेदन में तथा न्यायालय के समक्ष किए गए निवेदन में तथा विचारण न्यायालय के आदेश में प्रत्याहरण की अनुमति का संदर्भ धारा 5(1)(ग) से है न कि 5(1)(घ) से। स्पष्ट है कि प्रदत्त अनुमति को ऐसे अपराध के संबंध में दी गई मानी जाएगी जिसके लिए उत्तरदाता सं. 2 पर आरोपित नहीं किया गया था तथा जिसके लिए मुख्य रूप से आरोपित किया गया था अर्थात् धारा 5(1)(घ) के अंतर्गत अपराध को पूर्णतः उपेक्षित कर। यह स्थिति लोक अभियोजक तथा विद्वान विशेष न्यायाधीश दोनों की ओर से प्रत्याहरण के मुद्दे के संबंध में स्पष्ट तथा चमकदार मनन न करने को उजागर करती है; उच्च न्यायालय में भी स्थिति में कोई सुधार नहीं है। [103 बी,डी,ई,एफ,एच,104 ए–सी]

बहारुल इस्लाम, न्यायमूर्ति के द्वारा

1:1 दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 2 में "लोक अभियोजक" की परिभाषा को धारा 24(8) के साथ पठित करने तथा सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय *पंजाब राज्य बनाम सुरजीत सिंह* [1967] 2 एस.सी.आर. 347 के प्रकाश में इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि श्री एल. पी. सिन्हा संहिता की धारा 24 की उपधारा (8) के अंतर्गत वैध रूप से नियुक्त लोक अभियोजक थे। [115 डी–ई]

पंजाब राज्य बनाम सुरजीत सिंह, [1967] 2 एस.सी.आर. 347 – इनका अनुसरण किया गया।

1:2 श्री एल. पी. सिन्हा की नियुक्ति को परोक्ष रूप से चुनौती नहीं दी जा सकती, विशेष रूप से संविधान के अनुच्छेद 136 के अंतर्गत आवेदन में। श्री ए. के. दत्त, जो पूर्व नियुक्त व्यक्ति थे, ने मामले के किसी भी स्तर पर न तो श्री एल. पी. सिन्हा की विशेष लोक

अभियोजक के रूप में नियुक्ति के संबंध में कोई शिकायत की थी न ही उत्तरवर्ती व्यक्ति द्वारा मामले के संचालन के संबंध में; न ही श्री एल. पी. सिन्हा — जिनकी नियुक्ति तथा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अंतर्गत आवेदन करने के अधिकार को चुनौती दी गई है — सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष उपस्थित हैं। [115 ई–जी]

1:3 पूर्व नियुक्ति की समाप्ति के बिना उत्तरवर्ती अभियोजक की नियुक्ति सबसे अच्छी स्थिति में अनियमित या अनुचित हो सकती है किन्तु विधिक रूप से अमान्य नहीं कहा जा सकता। भारत में मान्यता प्राप्त वास्तविक क्षेत्राधिकार का सिद्धांत इस मामले में लागू होगा। [115 जी–एच,116 ए]

गोकराजू रंगराजू बनाम आंध्र प्रदेश राज्य, 1981 3 एस.सी.आर. 474 – अनुसरण किया गया।

न्यूजीलैंड तथा नॉर्टन बनाम शेली काउंटी, पृ. 1886; 118 यूएस 425 – अनुमोदनपूर्वक उद्धरण किया गया।

1:4 श्री एल. पी. सिन्हा मामले में *विधि द्वारा* तथा *वास्तव में* दोनों रूपों में लोक अभियोजक थे। यदि उन्होंने धारा 321 द्वारा अपेक्षित दो शर्तें पूरी कीं अर्थात् (i) कि वे लोक अभियोजक थे तथा (ii) मामले के प्रभारी थे तो वे मामले के प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने के सक्षम थे भले ही उनकी नियुक्ति केवल उसी प्रयोजन से की गई हो। [118 एच,119 ए–सी]

2:1 धारा 321 लोक अभियोजक या मामले के प्रभारी सहायक लोक अभियोजक को न्यायालय की सहमति से अभियोजन से प्रत्याहरण करने में सक्षम बनाती है। धारा 321 के अंतर्गत आवेदन करने से पूर्व लोक अभियोजक को मामले के तथ्यों पर स्वतंत्र रूप से अपना मन लगाना होता है बिना किसी बाह्य प्रभाव के अधीन हुए। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यदि लोक अभियोजक को सरकार से कोई संचार या निर्देश प्राप्त होता है तो उसका कार्य अवैध होगा। न्यायाधीश के विपरीत लोक अभियोजक पूर्णतः स्वतंत्र अधिकारी नहीं है। वह केंद्र या राज्य सरकार का नियुक्त व्यक्ति है जो सरकार की ओर से न्यायालय में किसी

अभियोजन या कार्यवाही का संचालन करता है। लोक अभियोजक सरकार के निर्देशों के बिना कार्य नहीं कर सकता; लोक अभियोजक मामले का पूर्णतः अपने आप पर या अपने मुवक्किल अर्थात् सरकार के निर्देशों के विरुद्ध संचालन नहीं कर सकता। धारा 321 लोक अभियोजक पर उस धारा के अंतर्गत आवेदन दाखिल करने से पूर्व सरकार से कोई निर्देश प्राप्त करने पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाती। यदि लोक अभियोजक ऐसे निर्देश प्राप्त करता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह बाह्य प्रभाव के अधीन कार्य कर रहा है। इसके विपरीत लोक अभियोजक सरकार से निर्देश प्राप्त किए बिना अपने आप पर मामले के प्रत्याहरण हेतु आवेदन दाखिल नहीं कर सकता। [119 डी–एच,120 बी–सी]

2:2 लोक अभियोजक द्वारा किए गए आवेदन के मात्र अवलोकन से यह प्रचुर रूप से स्पष्ट होता है कि उसने मामले के तथ्यों पर अपना मन लगाया था; उसने धारा 321 के अंतर्गत आवेदन करने से पूर्व मामले की दैनंदिनी तथा मामले से संबद्ध प्रासंगिक सामग्री का अवलोकन किया था। उसने सरकार के पत्र से अंधानुकरण नहीं किया जिसमें केवल एक आधार था अर्थात् "राज्य तथा लोक नीति के कारणों से अभियोजन की अनुपयुक्तता"। इस पत्र की विषयवस्तु तथा धारा 321 के अंतर्गत आवेदन की विषयवस्तु की तुलना यह अभिवचन पूर्णतः नकार देती है कि उसने मामले के तथ्यों पर स्वतंत्र रूप से अपना मन नहीं लगाया तथा वह बाह्य विचारों पर अंधानुकरण से कार्य किया। [121 एफ–एच]

3:1 धारा 321 का उद्देश्य प्रतीत होता है कि कार्यपालिका सरकार को राज्य के कारणों से अभियोजन की अनुपयुक्तता जैसे लोक नीति के व्यापक आधारों पर, विधि एवं व्यवस्था के रखरखाव जैसे लोक हित के व्यापक आधारों पर; लोक शांति तथा सद्भाव के रखरखाव पर, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक पर; परिवर्तित सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति पर; राज्य सरकार के अस्थिरीकरण से बचाव पर तथा समरूप आधारों पर किसी आपराधिक मामले से प्रत्याहरण करने की शक्ति सुरक्षित रखना है। तथा ऐसी शक्तियाँ ठीक ही सरकार के लिए सुरक्षित रखी गई हैं; क्योंकि राज्य या देश में प्रचलित ऐसी स्थितियों तथा

परिस्थितियों को सरकार के सिवाय और कौन जानता है। न्यायालय ऐसी स्थितियों को जानने की स्थिति में नहीं है। [126 डी–एफ]

3:2 अभियोजन से प्रत्याहरण लोक अभियोजक का कार्यपालकीय कार्य है तथा अभियोजन से प्रत्याहरण करने का अंतिम निर्णय उसका है; सरकार लोक अभियोजक को मात्र यह सुझाव दे सकती है कि किसी विशेष मामले में आगे कार्यवाही न की जाए किन्तु कोई उसे ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता; मात्र साक्ष्य की अपर्याप्तता ही नहीं अपितु अन्य प्रासंगिक आधार जैसे लोक न्याय के व्यापक उद्देश्यों को आगे बढ़ाना, आर्थिक तथा राजनीतिक; लोक व्यवस्था तथा शांति प्रत्याहरण के वैध आधार हैं। न्यायालय द्वारा सहमति देने या देने से इंकार करने की शक्ति का प्रयोग विवेकपूर्ण है। निश्चय ही यह विवेक का न्यायिक प्रयोग है। न्यायालय द्वारा शक्ति के प्रयोग की सीमा तक न्यायिक है कि सहमति देने या देने से इंकार करने में न्यायालय को यह देखना होता है : (i) क्या प्रत्याहरण के आधार वैध हैं तथा (ii) क्या लोक अभियोजक द्वारा किया गया आवेदन सद्भावी है तथा मिलीभगतपूर्ण नहीं है। यह स्मरण रखा जा सकता है कि धारा 321 के अंतर्गत आदेश अपील योग्य नहीं है। [128 डी–जी]

3:3 प्रश्नगत मामले में अभियुक्त व्यक्तियों के अभियोजन से प्रत्याहरण की अनुमति देने वाले विशेष न्यायाधीश के आक्षेपित आदेश के मात्र अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि उसने प्रासंगिक विधि पर अपना मन लगाया है। धारा 321 के अंतर्गत न्यायालय का कर्तव्य यह देखना है कि क्या आवेदन प्रत्याहरण के वैध आधारों का प्रकटन करता है—वैध जैसा कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा न्यायिक रूप से प्रतिपादित किया गया है। [128 जी–एच]

3:4 *प्रथम दृष्टया* मामला होने वाला आपराधिक कार्यवाही भी प्रत्याहृत की जा सकती है। इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 136 के अंतर्गत विशेष अनुमति द्वारा आपराधिक अपील में सर्वोच्च न्यायालय की सामान्य प्रथा यह है कि वह अभिलेख पर साक्ष्य का अवलोकन कर उसे सराहना नहीं करता कि निचली न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्यात्मक

निष्कर्ष सही हैं या त्रुटिपूर्ण हैं, पुलिस दैनंदिनी का अवलोकन कर यह देखना तो और भी कम कि क्या जाँच एजेंसी द्वारा पर्याप्त सामग्री संग्रहित की गई थी। वह निचली न्यायालयों के निष्कर्षों को स्वीकार करता है जब तक कि यह प्रदर्शित न कर दिया जाए कि निष्कर्ष विधि सिद्धांतों के गलत अनुप्रयोग के परिणाम हैं तथा आक्षेपित आदेश से गंभीर न्यायिक विफलता हुई है। [129 ए–सी]

आर. के. जैन बनाम राज्य, [1980]3 एस.सी.आर. 982 – अनुसरण किया गया।

3:5 संहिता की धारा 321 के अंतर्गत आदेश का विचारण न्यायालय या अपीलीय न्यायालय द्वारा आपराधिक अभियोजन में दर्ज दोषसिद्धि या निर्दोषता के आदेश के समान दर्जा नहीं है क्योंकि पूर्ववर्ती अपील योग्य नहीं बनाया गया है। संहिता की धारा 321 के अंतर्गत आदेश का दायरा संकीर्ण है। चूँकि संहिता की धारा 321 के अंतर्गत आदेश न्यायिक है इसलिए विचारण न्यायालय से अपेक्षा की जाती है कि वह सहमति देने या देने से इंकार करने के कारण दे। न्यायालय का कर्तव्य यह देखना है कि प्रत्याहरण के आधार विधिक रूप से वैध हैं तथा लोक अभियोजक द्वारा किया गया आवेदन सद्भावी है तथा मिलीभगतपूर्ण नहीं है। संहिता की धारा 321 के अंतर्गत आदेश के पुनरीक्षण में उच्च न्यायालय का कर्तव्य यह देखना है कि विचारण न्यायालय द्वारा धारा 321 के अंतर्गत आवेदन पर विचारण दिग्भ्रमित नहीं था तथा प्रत्याहरण के आधार विधिक रूप से वैध हैं। इस मामले में विचारण न्यायालय ने प्रत्याहरण के आधारों पर विस्तार से विचार किया तथा उन्हें वैध पाया तथा तदनुसार प्रत्याहरण हेतु अपनी सहमति प्रदान की। पुनरीक्षण में उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के निष्कर्षों की पुष्टि की। इसलिए विशेष अनुमति द्वारा इस अपील में निचली न्यायालयों के निष्कर्षों को विक्षुब्ध करने तथा जाँच के क्रम में अनुसंधानकर्तओं द्वारा अभिलिखित साक्षियों के कथनों या अन्य सामग्री का अवलोकन करने का कोई औचित्य नहीं है। [129 सी–एच]

3:6 कोई तथ्यात्मक प्रश्न कि कोई जाँच नहीं की गई पहली बार संविधान के अनुच्छेद 136 के अंतर्गत विशेष अनुमति द्वारा अपील में नहीं उठाया जा सकता। विशेष

न्यायाधीश के समक्ष अपने आवेदन में अपीलकर्ता ने लोक अभियोजक द्वारा धारा 321 के अंतर्गत दाखिल आवेदन में प्रत्याहरण के किसी आधार पर दोष नहीं निकाला। पूर्वतिथि करने या किसी पूर्व आदेश को चिपकाने द्वारा कोई जालसाजी तथा इस प्रकार किसी अपराधी को संरक्षण देने के किसी प्रयास का कोई उल्लेख नहीं था। इस प्रकार उसने विशेष न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय को कथित जालसाजी पर कोई निष्कर्ष देने से रोक दिया तथा सर्वोच्च न्यायालय को भी निचली न्यायालयों के ऐसे निष्कर्षों के लाभ से वंचित कर दिया। [131 सी–ई]

3:7 अभिलेख पर सामग्री से जालसाजी या आपराधिक कदाचार का कोई *प्रथम दृष्टया* मामला नहीं बनता। यदि मुख्य मंत्री ने पाया कि उनका प्रथम आदेश विधि द्वारा अनुचित था तो यह उचित ही था कि उन्होंने उस आदेश को निरस्त कर दिया। दूसरे आदेश को कागज के टुकड़े से चिपकाना *प्रथम दृष्टया* संदिग्ध प्रतीत होता है किन्तु मुख्य मंत्री के सचिवालय में चिपकाना सामान्य प्रथा है। मात्र पूर्वतिथि करना कोई अपराध नहीं है। [132 सी,ई,एफ]

3:8 यदि दो व्याख्याएँ संभव हों एक अपराधिक आशय दर्शाने वाली तथा दूसरी निर्दोष तो निस्संदेह अभियुक्त के लाभकारी व्याख्या को स्वीकार किया जाना चाहिए। [132 जी]

3:9 यदि विचारण हेतु पुनः प्रेषण किया जाता है तो यह मात्र व्यर्थ का व्यायाम होगा तथा निम्नलिखित परिस्थितियों के दृष्टिगत मामले को विचारण न्यायालय में पुनः प्रेषित करना न्यायालय का दुरुपयोग के सिवाय कुछ नहीं होगा अर्थात् (i) घटना 1970 में हुई थी; यह पहले से ही बारह वर्ष से अधिक हो चुके हैं; (ii) उत्तरदाता सं. 2 मुख्य मंत्री के रूप में अपने पद पर हैं। मानव स्वभाव को जानते हुए जैसा कि वह है उनसे यह अपेक्षा करना कठिन है कि साक्षी जिनमें अधिकांश अधिकारी हैं मुख्य मंत्री के विरुद्ध आगे आएँ तथा साक्ष्य दें; तथा (iii) उत्तरदाता सं. 2 द्वारा मुख्य मंत्री के रूप में पद ग्रहण करने के पश्चात् भी विशेष न्यायाधीश के न्यायालय में अभियोजन कई तिथियों पर लंबित था किन्तु

अभियोजक श्री ए.के. दत्त ने मामले में कोई रुचि नहीं ली। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सत्ता में सरकार द्वारा नियुक्त लोक अभियोजक अब रुचि लेगा तथा मामले का संचालन इस प्रकार करेगा कि अपने मुख्य मंत्री की दोषसिद्धि प्राप्त कर सके। [136 एफ–एच,137 ए–बी]

आर.बी. मिश्र, न्यायमूर्ति के द्वारा

1:1 दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के मात्र अवलोकन से स्पष्ट है कि यह लोक अभियोजक की किसी विशेष आपराधिक मामले के अभियोजन से प्रत्याहरण करने की शक्ति पर कोई प्रतिबंध या बंधन नहीं लगाती। वह केवल इतना आवश्यक है कि वह ऐसा केवल मामले के लंबित न्यायालय की सहमति से ही कर सकता है। [140 सी–डी]

1:2 इस देश में आपराधिक न्याय की योजना गंभीर अपराधों के अभियोजन की प्रधान जिम्मेदारी कार्यपालिका प्राधिकार पर रखती है। जाँच, आवश्यक साक्ष्य का संग्रह तथा ऐसे साक्ष्य के संदर्भ में अपराधों के लिए अभियोजन कार्यपालिका के कार्य हैं। इस संबंध में न्यायालय का कार्य सीमित है तथा केवल दुरुपयोग रोकने हेतु अभिप्रेत है। प्रत्याहरण हेतु सहमति देने में न्यायालय का कार्य किन्तु न्यायिक कार्य है। इसलिए जिस न्यायालय के समक्ष लोक अभियोजक द्वारा प्रत्याहरण हेतु आवेदन दाखिल किया जाता है उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह अपना मन लगाए ताकि अपीलीय न्यायालय जाँच कर संतुष्ट हो सके कि न्यायालय ने सहमति मात्र सामान्य क्रम में नहीं अपितु लोक अभियोजक द्वारा प्रत्याहरण हेतु आवेदन में लिए गए आधारों पर अपना मन लगाकर प्रदान की है। [140 ई–जी]

बिहार राज्य बनाम राम नरेश पांडेय, 1957 एस.सी.आर. 279; *एम.एन.एस. नायर बनाम पी.वी. बालकृष्णन एवं अन्य,* 1972 2 एस.सी.आर. 599; *ओडिशा राज्य बनाम चंद्रिका मोहापात्र,* 1977 1 एस.सी.आर. 535; *बलवंत सिंह बनाम बिहार राज्य,* 1978 1 एस.सी.आर. 605; *आर.के. जैन बनाम राज्य,* 1980 3 एस.सी.आर. 982 – संदर्भित।

2:1 धारा 321 अत्यंत व्यापक शब्दों में है तथा सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के दृष्टिगत आपराधिक कार्यवाही के प्रत्याहरण के आधारों को केवल राजनीतिक अपराध कहे जाने वाले अपराधों या भावनात्मक मुद्दों से संलग्न अपराधों तक सीमित करना संभव नहीं होगा। लोक अभियोजक द्वारा प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने तथा न्यायालय द्वारा प्रत्याहरण हेतु अनुमति देने में एकमात्र मार्गदर्शक कारक यह देखना होना चाहिए कि क्या लोक न्याय के हित को आगे बढ़ाया जा रहा है तथा प्रत्याहरण हेतु आवेदन लोक न्याय के कारण की पुष्टि से असंबद्ध किसी तिरछे उद्देश्य से प्रेरित नहीं है। [145 ई–जी]

2:2 भारतीय दंड संहिता या दंड प्रक्रिया संहिता राजनीतिक अपराधों तथा राजनीतिक न होने वाले अपराधों के बीच कोई ऐसा भेद नहीं करती। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि राजनीतिक अपराध विधिशास्त्र को अज्ञात हैं तथा अन्य अधिनियम राजनीतिक अपराधों की परिकल्पना करते हैं तो भी यह तथ्य बना रहता है कि दं.प्र.सं. की धारा 321 केवल राजनीतिक अपराधों तक सीमित नहीं है अपितु यह सभी प्रकार के अपराधों पर लागू होती है तथा लोक अभियोजक द्वारा प्रत्याहरण हेतु आवेदन विभिन्न आधारों पर किया जा सकता है। [145 एच,146 ए–बी]

2:3 यह कहना कि जब तक कथित रूप से किए गए अपराध स्वयं राजनीतिक अपराध न हों या राजनीतिक महत्वाकांक्षा या विचार से प्रेरित न हों या जन आंदोलनों, सांप्रदायिक उन्मादों, क्षेत्रीय विवादों में किए गए न हों तो लोक न्याय, लोक व्यवस्था या शांति की किसी व्यापक सेवा का प्रश्न ही नहीं उठ सकता संहिता की धारा 321 के व्यापक शब्दों पर सीमा लगाना होगा। [148 एफ–जी]

3:1 लोक अभियोजक अभियोजन से प्रत्याहरण साक्ष्य की कमी के आधार पर ही नहीं अपितु अन्य प्रासंगिक आधारों पर भी कर सकता है ताकि न्याय, लोक व्यवस्था तथा शांति के व्यापक उद्देश्यों को आगे बढ़ाया जा सके। लोक न्याय का व्यापक उद्देश्य निश्चय ही उपयुक्त सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक प्रयोजनों को सम्मिलित करेगा। [143 जी–एच]

3:2 अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन विभिन्न आधारों पर किया जा सकता है तथा यह राजनीतिक अपराधों तक सीमित नहीं है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्याहरण हेतु आवेदन में उल्लिखित आधार अर्थात् :

(i) अभियुक्त व्यक्तियों का राजनीतिक तथा व्यक्तिगत विद्वेष के फलस्वरूप फंसाया जाना,

(ii) राज्य तथा लोक नीति के कारणों से अभियोजन की अनुपयुक्तता तथा

(iii) परिवर्तित स्थिति के प्रकाश में अभियोजन जारी रखने से लोक हित पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभाव अप्रासंगिक हैं।

ये प्रत्याहरण हेतु दायी आधार नहीं हैं। [145 जी–एच]

3:3 आगे लोक अभियोजक द्वारा प्रत्याहरण हेतु अपने आवेदन में दिए गए आधारों पर मामले से प्रत्याहरण करने का निर्णय अनुचित या तिरछे उद्देश्य से प्रेरित कहा जाना संभव नहीं है। उसने सद्भावी रूप से विचार किया कि परिवर्तित परिस्थितियों में मामले में आगे कार्यवाही करना अनुपयुक्त होगा तथा यदि दोषसिद्धि की संभावनाएँ बहुत कम तथा दूर-दूर हैं तो मामले को खींचना सार्वजनिक धन तथा समय की महज बर्बादी होगी। परिस्थितियों में लोक न्याय के कारण की सेवा करने के स्थान पर यह लोक हित के लिए हानिकारक होगा। [149 बी–डी]

3:4 सरकार द्वारा लोक अभियोजक को भेजा गया पत्र यह संकेत नहीं देता कि सरकार चाहती है कि वह मामले में आगे कार्यवाही न करे अपितु पत्र ने लोक अभियोजक को पूर्ण विवेक प्रदान किया कि वह तथ्यों तथा परिस्थितियों पर अपना मन लगाए तथा स्वयं के निष्कर्ष पर पहुँचे। सरकार या उच्च अधिकारी से परामर्श करना अनुचित नहीं है। किन्तु लोक अभियोजक को अभियोजन से प्रत्याहरण करने के निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व मामले के तथ्यों तथा परिस्थितियों पर अपना मन लगाना होता है। अभिलेख पर सामग्री से स्पष्ट है कि लोक अभियोजक ने अपना मन लगाया तथा स्वयं के निष्कर्ष पर पहुँचा। [155 डी–एफ]

3:5 प्रत्याहरण का निर्णय करने की विधिक जिम्मेदारी लोक अभियोजक पर ही निहित है। यह अहस्तांतरणीय है तथा इसका सौदा नहीं किया जा सकता। धारा 321 के अंतर्गत आवेदन से निपटाने में न्यायालय का कर्तव्य उन सामग्रियों का पुनर्मूल्यांकन करना नहीं है जिनके कारण लोक अभियोजक ने अभियोजन से प्रत्याहरण का अनुरोध किया अपितु यह विचार करना है कि लोक अभियोजक ने अप्रासंगिक तथा बाह्य या तिरछे विचारों से अप्रभावित स्वतंत्र एजेंट के रूप में अपना मन लगाया था या नहीं क्योंकि न्यायालय का इस संबंध में विशेष कर्तव्य है चूँकि वह प्रत्याहरण के लिए सहमति देने या देने से इंकार करने में विधायी विश्वास का अंतिम भंडार है। [149 डी–ई]

3:6 यदि लोक अभियोजक का मत ऐसा है जिसे परिस्थितियों में कोई युक्तियुक्त व्यक्ति ले सकता था तो न्यायालय लोक अभियोजक के मत के स्थान पर अपना मत प्रतिस्थापित नहीं कर सकता। यदि लोक अभियोजक ने प्रासंगिक सामग्री पर अपना मन लगाया है तथा उसका मत विकृत नहीं है तथा जिस पर कोई युक्तियुक्त व्यक्ति पहुँच सकता था तो उसके निष्कर्ष सही थे या गलत यह पता लगाने के प्रयोजन से अभिलेख पर साक्ष्य तथा सामग्री की व्यापक जाँच करना असक्षम होगा। [154 एच,155 ए]

यह मत लिए जाने के कारण कि भारतीय दंड संहिता की धारा 466 तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5(1)(घ) के अंतर्गत कोई *प्रथम दृष्टया* मामला नहीं बनता तथा उच्च न्यायालय ने पुनरीक्षण में लोक अभियोजक के धारा 321 दं.प्र.सं. के अंतर्गत आवेदन पर अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु सहमति देने वाले विशेष न्यायाधीश के मत से सहमत होने के तथ्य के कारण यह न्यायालय साक्ष्य का नया मूल्यांकन नहीं कर सकता तथा भिन्न निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता।यह न्यायालय को केवल यह देखना है कि लोक अभियोजक अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन करते समय बाह्य या अनुचित विचारों से प्रेरित नहीं था। यदि लोक अभियोजक द्वारा अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन करते समय लिए गए मत से भिन्न कोई अन्य मत संभव है तो सर्वोच्च न्यायालय को आदेश में हस्तक्षेप करने में

अनिच्छुक रहना चाहिए जब तक कि वह इस निष्कर्ष पर न पहुँच जाए कि लोक अभियोजक ने मामले के तथ्यों तथा परिस्थितियों पर अपना मन नहीं लगाया तथा सरकार के आदेश पर कार्य किया या बाह्य तथा अनुचित विचारों से प्रेरित था। मामले के तथ्यों तथा परिस्थितियों पर स्पष्ट है कि लोक अभियोजक तिरछे या अनुचित उद्देश्य से प्रेरित था। [157 बी–एफ]

आपराधिक अपीलीय क्षेत्राधिकार : सन् 1982 की आपराधिक अपील सं. 241।

पटना उच्च न्यायालय के दिनांक 14 सितम्बर, 1981 के निर्णय तथा आदेश से विशेष अनुमति द्वारा अपील आपराधिक पुनरीक्षण सं. 874 सन् 1981 में।

के.के. वेणुगोपाल, एस.के. सिन्हा, एस.के. वर्मा, वी.एन. सिंह, एल.के. पांडेय, एम.एन. कृष्णमणि तथा वी.एन. सिन्हा – अपीलकर्ताओं के लिए।

के. परासरन, महाधिवक्ता, के.पी. वर्मा, पी.एस. मिश्रा तथा आर.पी. सिंह – उत्तरदाता सं. 1 के लिए।

ए.के. सेन, ओ.पी. मल्होत्रा तथा आर.के. जैन – उत्तरदाता सं. 2 के लिए।

राजेंद्र सिंह, आर.पी. सिंह, रंजीत कुमार तथा एस. गोस्वामी – उत्तरदाता सं. 3 के लिए।

एस.एन. कक्कड़ तथा एम.पी. झा – उत्तरदाता सं. 4 के लिए।

जय नारायण तथा श्रीमती निर्मला प्रसाद – हस्तक्षेपकर्ता के लिए।

निम्नांकित निर्णय प्रतिपादित किए गए :

तुलजापुरकर, न्यायमूर्ति—विशेष अनुमति प्रदान किए जाने के आधार पर पसंद की गई इस अपील द्वारा अपीलकर्ता दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 321 के अंतर्गत उत्तरदाताओं सं. 2, 3 तथा 4 के अभियोजन से प्रत्याहरण को चुनौती दे रहा है।

दिनांक 19 फरवरी, 1979 को राज्यपाल से आवश्यक स्वीकृति प्राप्त करने के पश्चात् बिहार राज्य द्वारा निगरानी थाना कांड सं. 9 (2) 78 में उत्तरदाता सं. 2 (डॉ. जगन्नाथ मिश्र), उत्तरदाता सं. 3 (नवल किशोर सिन्हा), उत्तरदाता सं. 4 (जीवानंद झा) तथा तीन

अन्य (के.पी. गुप्ता, मृत्यु हो चुकी, एन.ए. हैदरी तथा ए.के. सिंह, जो बाद में अभियोजन पक्ष के साक्षी बन गए) के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धाराओं 420/466/471/109/120-बी तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(1)(क), 5(1)(ख) तथा 5(1)(घ) को धारा 5(2) के साथ पठित अपराधों के लिए आरोप-पत्र दाखिल किया गया। अन्य बातों के साथ-साथ उत्तरदाता सं. 2 के विरुद्ध आरोप का मुख्य आधार यह था कि सभी प्रासंगिक समय में वे बिहार के मंत्री या मुख्य मंत्री थे तथा उस हैसियत से भ्रष्ट या अवैध साधनों द्वारा या अन्यथा लोक सेवक के रूप में अपनी स्थिति का दुरुपयोग कर अन्य अभियुक्तों के साथ मिलीभगत से तथा विशेष रूप से नवल किशोर सिन्हा की रक्षा करने के उद्देश्य से नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों के विरुद्ध आपराधिक अभियोजन तथा अधिभार कार्यवाहियों को विफल करने का प्रयास किया तथा स्वयं के लिए या उनके लिए आर्थिक लाभ प्राप्त किया या प्रदान किया तथा पटना शहरी सहकारी बैंक, उसके सदस्यों, निक्षेपकों तथा लेनदारों को हानि पहुँचाई तथा इस प्रकार भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(1)(घ) को धारा 5(2) के साथ पठित आपराधिक कदाचार का अपराध किया तथा इस प्रक्रिया में आरोप-पत्र में निर्दिष्ट अन्य अपराध किए जिनमें भारतीय दंड संहिता की धारा 466 के अंतर्गत जालसाजी का अपराध शामिल है। मामले का संज्ञान दिनांक 21 नवम्बर, 1979 को विद्वान मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी-सह-विशेष न्यायाधीश (निगरानी), पटना द्वारा लिया गया जिन्होंने अभियुक्तों के विरुद्ध प्रक्रिया जारी की किन्तु विचारण प्रारंभ होने से पूर्व राज्य सरकार ने उत्तरदाता सं. 2 के इशारे पर जो इस बीच सत्ता में आ गए थे तथा मुख्य मंत्री बन गए थे फरवरी 1981 में राज्य तथा लोक नीति के कारणों से अभियोजन से प्रत्याहरण करने का निर्णय लिया। यद्यपि प्रारंभ में श्री अवधेश कुमार दत्त, वरिष्ठ अधिवक्ता, पटना उच्च न्यायालय को पूर्ववर्ती सरकार द्वारा उक्त मामले के संचालन हेतु विशेष लोक अभियोजक नियुक्त किया गया था राज्य सरकार (अब उत्तरदाता सं. 2 के नेतृत्व में) ने श्री दत्त की विशेष लोक अभियोजक के रूप में नियुक्ति रद्द किए बिना दिनांक 24 फरवरी, 1981 को निगरानी विभाग

से संबंधित मामलों के संचालन हेतु अधिवक्ताओं का नया पैनल गठित किया तथा श्री ललन प्रसाद सिन्हा, जिन्हें नए पैनल पर नियुक्त किया गया था, को उक्त मामले का आवंटन किया गया तथा उन्हें सरकार के उक्त निर्णय की सूचना दी गई तथा दिनांक 26 मार्च 1981 को उनसे आगे यह अनुरोध किया गया कि वे मामले पर विचार करने तथा उसके संबंध में स्वयं संतुष्ट होने के पश्चात् मामले के प्रत्याहरण हेतु कदम उठाएँ। दिनांक 17 जून, 1981 को श्री ललन प्रसाद सिन्हा ने दं.प्र.सं. 1973 की धारा 321 के अंतर्गत विशेष न्यायाधीश के समक्ष आवेदन किया जिसमें मामले में उत्तरदाताओं सं. 2, 3 तथा 4 के अभियोजन से प्रत्याहरण की अनुमति मांगी गई चार आधारों पर अर्थात् (क) अभिलेख पर साक्ष्य के प्रकाश में सफल अभियोजन की संभावना का अभाव, (ख) व्यक्तियों का राजनीतिक तथा व्यक्तिगत विद्वेष के फलस्वरूप फंसाया जाना, (ग) राज्य तथा लोक नीति के कारणों से अभियोजन की अनुपयुक्तता तथा (घ) परिवर्तित स्थिति के प्रकाश में अभियोजन जारी रखने से लोक हित पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभाव तथा विद्वान विशेष न्यायाधीश ने दिनांक 20 जून, 1981 के अपने आदेश द्वारा अनुमति प्रदान की। अपीलकर्ता द्वारा उक्त आदेश के विरुद्ध दायर आपराधिक पुनरीक्षण सं. 874/1981 को उच्च न्यायालय द्वारा दिनांक 14 सितम्बर, 1981 को प्रारंभिक रूप से खारिज कर दिया गया। यह अभियोजन से प्रत्याहरण जिसकी विद्वान विशेष न्यायाधीश द्वारा अनुमति तथा उच्च न्यायालय द्वारा पुष्टि की गई है इस अपील में चुनौती दी जा रही है।

अपीलकर्ता के अधिवक्ता ने अपील के समर्थन में तीन या चार अभिवचन उठाए। प्रथम स्थान पर उन्होंने अभिवचित किया कि आक्षेपित प्रत्याहरण गुण-दोष पर पूर्णतः अनुचित था तथा अवैध भी क्योंकि यह इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादित उन सिद्धांतों के विपरीत था जो दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत शक्ति के प्रयोग को शासित करते हैं। उनके अनुसार इस धारा के अंतर्गत शक्ति की प्रकृति तथा दायरे पर असर डालने वाले इस न्यायालय के निर्णय स्पष्ट रूप से संकेत देते हैं कि उस धारा के प्रयोजनों हेतु राजनीतिक अपराधों तथा सामान्य

विधि अपराधों के बीच एक द्विभाजन विद्यमान है तथा लोक नीति के विचार, लोक हित, राज्य के कारण या राजनीतिक तथा व्यक्तिगत विद्वेष पूर्ववर्ती श्रेणी के मामले में प्रासंगिक हो सकते हैं किन्तु सामान्य विधि अपराधों के अभियोजन से प्रत्याहरण करते समय अप्रासंगिक हैं तथा चूँकि वर्तमान मामले में अभियुक्तों तथा विशेष रूप से उत्तरदाता सं. 2 पर आरोपित अपराध सामान्य विधि अपराध थे अर्थात् रिश्वतखोरी (आपराधिक कदाचार) तथा जालसाजी तथा कोई राजनीतिक अपराध नहीं थे इसलिए प्रत्याहरण की अनुमति मांगने वाले आवेदन में उल्लिखित आधार (ख), (ग) तथा (घ) अप्रासंगिक तथा बाह्य थे तथा असंबद्ध विचारों ने लोक अभियोजक तथा न्यायालय दोनों को प्रभावित किया; प्रत्याहरण दूषित है तथा विधि में बुरा है तथा आधार (क) अर्थात् साक्ष्य की अपर्याप्तता या सफल अभियोजन की संभावना का अभाव के संबंध में वह स्पष्ट रूप से अस्थिर था क्योंकि निर्विवाद तथा प्रामाणिक दस्तावेजी साक्ष्य जिसमें उत्तरदाता सं. 2 द्वारा अपने हाथ से पारित किए गए आदेश शामिल हैं जो आरोपों को साबित करने हेतु उपलब्ध थे के विपरीत था; उन्होंने यह भी तर्क दिया कि ऐसे मामले में जहाँ अपराधों का प्रमाण मुख्य रूप से दस्तावेजी साक्ष्य पर आधारित था जिसकी प्रामाणिकता विवाद में नहीं थी वहाँ राजनीतिक तथा व्यक्तिगत विद्वेष या अनुचित तथा अति उत्साही जाँच का प्रश्न ही नहीं उठता; इसलिए आक्षेपित प्रत्याहरण निरस्त किए जाने योग्य था। द्वितीय स्थान पर अधिवक्ता ने अभिवचित किया कि श्री ललन प्रसाद सिन्हा दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत मामले के अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने के सक्षम अधिकारी नहीं थे चूँकि श्री ए.के. दत्त की दं.प्र.सं. की धारा 24(8) के अंतर्गत इस मामले के संचालन हेतु विशेष लोक अभियोजक के रूप में नियुक्ति रद्द नहीं की गई थी तथा इस प्रकार प्रत्याहरण की अनुमति हेतु आवेदन तथा उस पर प्रदत्त अनुमति अनधिकृत, असक्षम तथा अवैध थी। तृतीय स्थान पर यह तर्क दिया गया कि मामले के तथ्यों तथा परिस्थितियों पर श्री ललन प्रसाद सिन्हा ने स्वतंत्र रूप से स्वतंत्र एजेंट के रूप में कार्य नहीं किया अपितु राज्य सरकार के निर्णय से प्रभावित तथा निर्देशित थे तथा इस प्रकार सरकार के आदेश पर

प्रत्याहरण दूषित था। अधिवक्ता ने यह भी तर्क दिया कि श्री ललन प्रसाद सिन्हा का अभियोजन से प्रत्याहरण करने का निर्णय (यदि वह उसका अपना था) तथा विशेष न्यायाधीश का अनुमति प्रदान करने का निर्णय मनन न करने से दूषित था।

दूसरी ओर उत्तरदाताओं के अधिवक्ता ने अपीलकर्ता की ओर से उठाए गए सभी अभिवचनों का खंडन किया। यह अस्वीकार किया गया कि प्रश्नगत प्रत्याहरण गुण-दोष पर अनुचित था या अवैध या धारा 321 के अंतर्गत शक्ति के प्रयोग को शासित करने वाले सिद्धांतों के विरुद्ध था; इसके विपरीत उत्तरदाताओं के अधिवक्ता ने तर्क दिया कि इस न्यायालय के निर्णयों ने स्थिति स्पष्ट कर दी है कि संहिता के अंतर्गत अभियोजन से प्रत्याहरण लोक अभियोजक का कार्यपालकीय कार्य है; अभियोजन से प्रत्याहरण करने का विवेक लोक अभियोजक का है तथा किसी अन्य का नहीं तथा वह अभियोजन से प्रत्याहरण साक्ष्य की कमी के आधार पर ही नहीं अपितु अन्य प्रासंगिक आधारों पर भी कर सकता है ताकि लोक न्याय, लोक व्यवस्था तथा शांति के व्यापक उद्देश्यों को आगे बढ़ाया जा सके तथा लोक न्याय के व्यापक उद्देश्य उपयुक्त सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक प्रयोजनों को सम्मिलित करेंगे; तथा इससे अधिक प्रत्याहरण के लिए अपनी सहमति देने में न्यायालय मात्र पर्यवेक्षी कार्य संपादित करता है तथा ऐसे कार्य के निर्वहन में न्यायालय को उन आधारों का पुनर्मूल्यांकन नहीं करना होता जो लोक अभियोजक को अभियोजन से प्रत्याहरण का अनुरोध करने के लिए प्रेरित करते हैं अपितु यह विचार करना होता है कि लोक अभियोजक ने अप्रासंगिक या बाह्य विचार से अप्रभावित स्वतंत्र एजेंट के रूप में अपना मन लगाया था या नहीं। प्रत्याहरण की अनुमति मांगने वाले आवेदन में उल्लिखित आधार (ख), (ग) तथा (घ) अप्रासंगिक या बाह्य थे या आधार (क) अस्थिर था यह विवादित किया गया। अधिवक्ता के अनुसार वर्तमान मामले में श्री ललन प्रसाद सिन्हा मामले के प्रभारी तथा संचालन में होने के कारण प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने के सक्षम थे तथा उन्होंने मुद्दे पर प्रभाव डालने वाले सभी प्रासंगिक कारकों तथा परिस्थितियों पर विचार करने तथा उसके संबंध में स्वयं संतुष्ट

होने के पश्चात् ऐसा किया तथा अपीलकर्ता द्वारा अभिवचित किए अनुसार सरकार के आदेश पर नहीं तथा विद्वान विशेष न्यायाधीश ने भी प्रासंगिक विचारों पर आवश्यक अनुमति देने में अपना पर्यवेक्षी कार्य संपादित किया। अधिवक्ता ने यह दृढ़तापूर्वक अस्वीकार किया कि लोक अभियोजक का अभियोजन से प्रत्याहरण करने का निर्णय या विशेष न्यायाधीश का पर्यवेक्षी कार्य मनन न करने से दूषित था। अंत में यह अभिवचित किया गया कि यह न्यायालय विचारण न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के आक्षेपित आदेशों में संविधान के अनुच्छेद 136 के अंतर्गत अपनी शक्तियों के प्रयोग में हस्तक्षेप नहीं करे तथा अपील खारिज की जाए।

उपर्युक्त प्रतिद्वंद्वी अभिवचनों को ध्यान में रखते हुए जो हमारे समक्ष विद्वान महाधिवक्ता तथा दोनों पक्षों के अधिवक्ताओं द्वारा उठाए गए थे यह स्पष्ट है कि इस अपील में मुख्य रूप से तीन प्रश्न निर्धारण हेतु उठते हैं अर्थात् (1) दं.प्र.सं., 1973 की धारा 321 के अंतर्गत शक्ति का सही दायरा तथा प्रकृति क्या है? (2) क्या श्री ललन प्रसाद सिन्हा अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने के सक्षम अधिकारी थे तथा यदि हाँ तो क्या उन्होंने अपना कार्यपालकीय कार्य स्वतंत्र रूप से स्वतंत्र एजेंट के रूप में निर्वाहित किया? तथा (3) क्या उत्तरदाताओं सं. 2, 3 तथा 4 के अभियोजन से प्रत्याहरण निगरानी थाना कांड सं. 9 (2) 78 में तथ्यों पर तथा विधि में अनुचित तथा अनुचित था? दूसरे शब्दों में क्या लोक अभियोजक का कार्यपालकीय कार्य तथा या न्यायालय द्वारा संपादित पर्यवेक्षी कार्य बाह्य विचारों या मनन न करने आदि के कारण दूषित था जो इस न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप का पात्र है?

प्रथम प्रश्न पर धारा 321 शब्दशः कोई मार्गदर्शन नहीं देती; वह मात्र इतना कहती है कि "मामले के प्रभारी लोक अभियोजक न्यायालय की सहमति से निर्णय उच्चारित होने से पूर्व किसी भी समय किसी व्यक्ति के अभियोजन से सामान्य रूप से या उसके द्वारा विचारित एक या एक से अधिक अपराधों के संबंध में प्रत्याहरण कर सकता है" तथा यह आगे ऐसे प्रत्याहरण पर उत्पन्न होने वाले परिणामों को संकेतित करती है अर्थात् यदि प्रत्याहरण

आरोप गठित होने से पूर्व किया जाता है तो अभियुक्त का उन्मोचन या यदि आरोप गठित होने के पश्चात् किया जाता है तो अभियुक्त का निर्दोषकरण; दूसरे शब्दों में यह कोई संकेत या दिशानिर्देश नहीं देती कि किन परिस्थितियों में या किन आधारों पर लोक अभियोजक अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन कर सकता है न ही उन विचारों पर जिन पर न्यायालय को अपनी सहमति प्रदान करनी है तथा इसलिए इसमें निहित शक्ति के सही दायरे तथा प्रकृति का पता लगाने हेतु इस न्यायालय के निर्णयों का सहारा लेने की आवश्यकता है। इस संबंध में इस न्यायालय के काफी निर्णयों का दोनों पक्षों के अधिवक्ताओं द्वारा उल्लेख किया गया दोनों पूर्ववर्ती उपबंध अर्थात् दं.प्र.सं. 1898 की धारा 494 में निहित तथा वर्तमान उपबंध अर्थात् धारा 321 में निहित (दोनों मूल रूप से *समान पदार्थ* वाले हैं) किन्तु उन सभी से निपटने की आवश्यकता नहीं है तथा चार निर्णयों अर्थात् *बिहार राज्य बनाम राम नरेश पांडेय*[1]; *ओडिशा राज्य बनाम चंद्रिका मोहापात्र एवं अन्य*[2]; *बलवंत सिंह एवं अन्य बनाम बिहार राज्य*[3]; तथा *आर.के. जैन बनाम राज्य*[4] का उल्लेख करना पर्याप्त होगा जिनका विचाराधीन पहलुओं पर प्रभाव है। ये निर्णय धारा के अंतर्गत शक्ति के प्रयोग को शासित करने वाले सिद्धांतों के प्रतिपादन के अतिरिक्त लोक अभियोजक (जो कार्यपालकीय कार्य संपादित करता है) तथा न्यायालय (जो पर्यवेक्षी न्यायिक कार्य संपादित करता है) के कार्यात्मक द्विभाजन पर जोर देते हैं।

राम नरेश पांडेय मामले (उपर्युक्त) में न्यायालय ने पुरानी संहिता की धारा 494 से निपटते हुए निम्नानुसार अवलोकित किया :

---

1 [1957] एस. सी. आर. 279

2 [1977] 1 एस. सी. आर. 335

3 [1878] 1 एस. सी. आर. 604

4 [1980] 3 एस. सी. आर. 982

"धारा एक सक्षम बनाने वाली है तथा लोक अभियोजक में किसी व्यक्ति के अभियोजन से प्रत्याहरण करने हेतु न्यायालय से उसकी सहमति हेतु आवेदन करने का विवेक निहित करती है। यदि सहमति प्रदान की जाती है तो उसके पश्चात् मामले के अनुसार उसका उन्मोचन या निर्दोषकरण किया जाना होता है ... किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि सहमति प्रदान करने पर उत्पन्न होने वाला *परिणामी आदेश* 'उन्मोचन' या 'निर्दोषकरण' का आदेश होने के कारण *दंड प्रक्रिया संहिता की धाराओं 435, 436 तथा 439 या 417 के अंतर्गत उच्च न्यायालय द्वारा सुधार की प्रयोज्यता को आकर्षित करेगा। इसलिए सहमति प्रदान करने में न्यायालय का कार्य न्यायिक कार्य माना जा सकता है।* इससे अनुसरण होता है कि सहमति प्रदान करने में न्यायालय को न्यायिक विवेक का प्रयोग करना होता है ... पहल लोक अभियोजक की है तथा न्यायालय को केवल सहमति देनी होती है तथा कोई मामला न्यायिक रूप से निर्धारित नहीं करना होता है ... *इसलिए सहमति प्रदान करने हेतु न्यायिक विवेक के प्रयोग में निहित न्यायिक कार्य सामान्यतः यह अर्थ रखेगा कि न्यायालय को यह संतुष्ट करना होता है कि लोक अभियोजक का कार्यपालकीय कार्य अनुचित रूप से प्रयोग नहीं किया गया है या कि यह न्याय के सामान्य क्रम में अवैध कारणों या प्रयोजनों से हस्तक्षेप करने का प्रयास नहीं है* ... यह (धारा 494) नहीं माना जा सकता कि यह न्यायालय पर विचारणीय मुद्दे का *प्रथम दृष्टया* निर्धारण की जिम्मेदारी रखती है। उदाहरणस्वरूप इससे उत्पन्न होने वाला उन्मोचन सदैव धाराओं 209(1) तथा 253(1) के अंतर्गत 'कोई *प्रथम दृष्टया* मामला

नहीं' या धाराओं 209(2) तथा 253(2) के अंतर्गत 'आधारहीनता' के मानक से अनुरूप होना आवश्यक नहीं है। *इसका यह अर्थ नहीं है कि लोक अभियोजक के आवेदन पर सहमति हल्के ढंग से दी जानी चाहिए बिना सहमति हेतु आवेदन में लिए गए आधारों की सावधान तथा उचित जाँच के।"* (जोर दिया गया)।

चंद्रिका मोहापात्र मामले (उपर्युक्त) में धारा 494 के अंतर्गत अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु सहमति देते समय न्यायालय द्वारा ध्यान में रखे जाने वाले सिद्धांतों को रेखांकित करते हुए न्यायालय ने निम्नानुसार अवलोकित किया :

"इसलिए यह देखा जाएगा कि लोक अभियोजक के लिए मात्र यह कहना पर्याप्त नहीं है कि अभियोजन में आगे कार्यवाही करना अनुपयुक्त है। उसे कुछ आधार प्रस्तुत करना होता है जो दर्शाए कि अभियोजन से प्रत्याहरण इसलिए मांगा जा रहा है क्योंकि अन्य बातों के साथ-साथ अभियोजन आरोप को अक्षुण्ण रखने हेतु पर्याप्त साक्ष्य प्रस्तुत करने में असमर्थ हो सकता है या कि अभियोजन सुस्थापित प्रतीत नहीं होता या कि ऐसी अन्य परिस्थितियाँ हैं जो स्पष्ट रूप से दर्शाती हैं कि अभियोजन में आगे कार्यवाही करने से न्याय प्रशासन का उद्देश्य आगे नहीं बढ़ेगा या उसे बढ़ावा नहीं मिलेगा। अंतिम मार्गदर्शक विचार सदैव न्याय प्रशासन का हित होना चाहिए तथा यही वह कसौटी है जिस पर यह प्रश्न निर्धारित किया जाना चाहिए कि अभियोजन से प्रत्याहरण की अनुमति दी जानी चाहिए या नहीं।"

यह कहा जा सकता है कि सन् 1975 की आपराधिक अपील सं. 310 उन अपीलों में से एक थी जिसे न्यायालय ने उस मामले में निपटाया था। उस अपील में घटना, जिसके क्रम में भारतीय दंड संहिता की धाराओं 147, 148, 149, 307 तथा 324 के अपराध कहे गए

थे किए गए थे, दो ट्रेड यूनियनों के बीच प्रतिद्वंद्विता से उत्पन्न हुई थी तथा घटना की तिथि से औद्योगिक उपक्रम में शांत तथा शांतिपूर्ण वातावरण प्रचलित था तथा उन परिस्थितियों में राज्य का मत था कि उत्तरदाताओं के विरुद्ध अभियोजन जारी रखना न्याय के हित में अनुकूल नहीं होगा क्योंकि उत्तरदाताओं की दोषसिद्धि की संभावना के साथ अभियोजन कटुता तथा विरोध की भावनाएँ जगाएगा तथा औद्योगिक उपक्रम में प्रचलित शांत तथा शांतिपूर्ण वातावरण को विक्षुब्ध करेगा तथा इसलिए प्रत्याहरण की अनुमति मांगी गई तथा प्रदान की गई। अनुमति को अक्षुण्ण रखते हुए न्यायालय ने निम्नानुसार अवलोकित किया :

> "हम यह नहीं भूल सकते कि अंततः प्रत्येक अपराध के पीछे कोई सामाजिक या आर्थिक कारण होता है तथा यदि राज्य का मत है कि अपराध के सामाजिक या आर्थिक कारण का उन्मूलन या उन्मूलन अभियोजन में आगे कार्यवाही न करने से बेहतर सेवा की जाएगी तो राज्य को स्पष्ट रूप से अभियोजन से प्रत्याहरण करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।"

बलवंत सिंह मामले (उपर्युक्त) में लोक अभियोजक द्वारा अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने में उसके स्वतंत्र भूमिका पर जोर दिया गया तथा न्यायालय ने इंगित किया कि लोक अभियोजक द्वारा अभियोजन से प्रत्याहरण करने का निर्णय लेने से पूर्व उसे मार्गदर्शन करने वाला एकमात्र विचार न्याय प्रशासन का व्यापक कारक होना चाहिए न कि राजनीतिक अनुग्रह या दलगत दबाव या समरूप विचार; न ही उसे अपने प्रशासकीय उच्चाधिकारियों द्वारा अभियोजन से प्रत्याहरण करने के लिए निर्देशित होने देना चाहिए अपितु उसे विचार करने वाला कारक यह होना चाहिए कि लोक न्याय का व्यापक कारण अभियोजन के प्रत्याहरण या जारी रखने से आगे बढ़ेगा या पीछे रहेगा। न्यायालय ने कुछ उदाहरण भी संकेतित किए जहाँ मामले के गुण-दोष से स्वतंत्र रूप से अभियोजन से

प्रत्याहरण का सहारा लिया जा सकता है जहाँ लोक न्याय का व्यापक कारण सेवा की जाएगी :

> "निश्चय ही लोक न्याय के हित सर्वोपरि विचार होने के कारण वे किसी विशेष मुकदमे के विधिक न्याय से ऊपर उठ सकते हैं तथा उससे आगे बह सकते हैं। उदाहरणस्वरूप सांप्रदायिक झगड़े जो मैत्रीपूर्ण ढंग से सुलझाए जा चुके हैं एक या दो लंबित अभियोजनों के कारण पुनः भड़कने नहीं चाहिए। श्रम विवाद जो आपराधिक मामलों को जन्म दे चुके हैं जब सुलझ जाते हैं तो शायद लोक न्याय के व्यापक अर्थ में हित अभियोजन से प्रत्याहरण को उचित ठहरा सकते हैं। अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं जहाँ मामले के गुण-दोष से अलग लोक न्याय की सेवा प्रत्याहरण से हो सकती है।"

आर.के. जैन मामले (उपर्युक्त) में विषय पर समस्त विधि व्यवस्था की समीक्षा करने के पश्चात् इस न्यायालय ने निर्णीत मामलों से उद्भूत आठ प्रतिज्ञप्तियाँ प्रतिपादित कीं (प्रतिवेदन के पृष्ठ 996 पर), जिनमें से निम्नलिखित छह वर्तमान मामले के प्रयोजनों हेतु प्रासंगिक होंगी :

"1. अभियोजन से प्रत्याहरण लोक अभियोजक का कार्यपालकीय कार्य है।

2. अभियोजन से प्रत्याहरण करने का विवेक लोक अभियोजक का है तथा किसी अन्य का नहीं तथा इसलिए वह उस विवेक को किसी अन्य को समर्पित नहीं कर सकता।

3. सरकार लोक अभियोजक को सुझाव दे सकती है कि वह अभियोजन से प्रत्याहरण करे किन्तु कोई उसे ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता।

4. लोक अभियोजक अभियोजन से प्रत्याहरण साक्ष्य की कमी के आधार पर ही नहीं अपितु अन्य प्रासंगिक आधारों पर भी कर सकता है ताकि लोक न्याय, लोक व्यवस्था तथा शांति के व्यापक उद्देश्यों को आगे बढ़ाया जा सके।लोक न्याय के व्यापक उद्देश्य निश्चय ही उपयुक्त सामाजिक, आर्थिक तथा हम जोड़ते हैं राजनीतिक प्रयोजनों को सम्मिलित करेंगे बिना टैमनी हॉल उद्यमों के।

5. न्यायालय प्रत्याहरण हेतु सहमति प्रदान करने में पर्यवेक्षी कार्य संपादित करता है।

6. न्यायालय का कर्तव्य उन आधारों का पुनर्मूल्यांकन करना नहीं है जिन्होंने लोक अभियोजक को अभियोजन से प्रत्याहरण का अनुरोध करने के लिए प्रेरित किया अपितु यह विचार करना है कि लोक अभियोजक ने अप्रासंगिक तथा बाह्य विचारों से अप्रभावित स्वतंत्र एजेंट के रूप में अपना मन लगाया था या नहीं। न्यायालय का इस संबंध में विशेष कर्तव्य है चूँकि वह प्रत्याहरण के लिए सहमति देने या देने से इंकार करने में विधायी विश्वास का अंतिम भंडार है।"

उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति सं. 4 की व्याख्या के रूप में न्यायालय ने आगे निम्नानुसार अवलोकित किया है :

"हमने इस न्यायालय के पूर्ववर्ती निर्णयों का उल्लेख किया है जहाँ कहा गया है कि साक्ष्य की कमी एकमात्र आधार नहीं है जिस पर लोक अभियोजक अभियोजन से प्रत्याहरण कर सकता है। अतीत में हमने अक्सर जाना है कि जन आंदोलनों, सांप्रदायिक दंगों, क्षेत्रीय

> विवादों, औद्योगिक संघर्षों, छात्र अशांति आदि से उत्पन्न अभियोजनों से प्रत्याहरण करना लोक हित में कितना उपयुक्त तथा आवश्यक है। जब भी मुद्दे भावनाओं से संलग्न होते हैं तथा वातावरण में हिंसा का आवेश होता है तो शांति बहाल करने, वातावरण को हिंसा के आवेश से मुक्त करने, मुद्दों का शांतिपूर्ण निपटारा करने तथा तूफान के पश्चात् आने वाले शांत को संरक्षित करने हेतु अभियोजन से प्रत्याहरण करना आवश्यक पाया गया है। भावनात्मक मुद्दों से संलग्न मामलों में विधि की पुष्टि के नाम पर अभियोजनों में दृढ़ता बरतना पूर्णतः प्रतिकारी सिद्ध हो सकता है।"

उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति सं. 6 की व्याख्या के रूप में न्यायालय ने आगे निम्नानुसार अवलोकित किया है :

> "हम जोड़ सकते हैं कि लोक अभियोजक का कर्तव्य होगा कि वह न्यायालय को उन कारणों की सूचना दे जिन्होंने उसे अभियोजन से प्रत्याहरण करने के लिए प्रेरित किया तथा न्यायालय का कर्तव्य होगा कि वह स्वयं उन कारणों का मूल्यांकन करे। आपराधिक न्याय प्रशासन में न्यायालय की जिम्मेदारी तथा हिस्सेदारी है तथा लोक अभियोजक की भी जो उसका 'न्याय मंत्री' है। दोनों का कर्तव्य है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के उपबंधों के सहारे कार्यपालिका द्वारा आपराधिक न्याय प्रशासन के संभाव्य दुरुपयोग या दुरुपयोग से उसकी रक्षा करें। न्यायपालिका की स्वतंत्रता यह अपेक्षा करती है कि एक बार मामला न्यायालय में पहुँच जाने के पश्चात् न्यायालय तथा उसके अधिकारी ही मामले पर नियंत्रण रखें तथा प्रत्येक मामले में क्या किया जाना है इसका निर्णय करें।"

धारा 321 में निहित शक्ति के उचित प्रयोग को शासित करने वाली विधिक स्थिति के उपर्युक्त प्रतिपादन से तीन या चार बातें पूर्णतः स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम स्थान पर यद्यपि यह लोक अभियोजक का कार्यपालकीय कार्य है जिसके लिए उसमें विधिक विवेक निहित है किन्तु विवेक न निरपेक्ष है न अपरीक्ष्य अपितु वह न्यायालय के पर्यवेक्षी कार्य के अधीन है। वस्तुतः कार्यपालकीय कार्य होने के कारण वह किसी अन्य कार्यपालकीय कार्यवाही की भाँति कुछ सीमित आधारों पर न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन होगा, जिस प्राधिकारी में विवेक निहित है उसे मामले पर वास्तव में स्वयं ध्यान देना चाहिए, किसी अन्य निकाय के आदेशों के अधीन कार्य नहीं करना चाहिए, जो करने से उसे निषिद्ध किया गया है उसे नहीं करना चाहिए, सद्भावी रूप से कार्य करना चाहिए, सभी प्रासंगिक विचारों को ध्यान में रखना चाहिए तथा अप्रासंगिक विचारों से प्रभावित नहीं होना चाहिए, विधान के अक्षर या भावना से भिन्न प्रयोजनों को बढ़ावा देने का प्रयास नहीं करना चाहिए तथा मनमाने या उतावले ढंग से कार्य नहीं करना चाहिए। इन कई सिद्धांतों को सुविधापूर्वक दो मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है : विवेक के प्रयोग में असफलता तथा विवेकपूर्ण शक्ति का अतिरेक या दुरुपयोग। किन्तु ये दो श्रेणियाँ परस्पर अपवर्जी नहीं हैं।" (देखिए स्मिथ की ज्यूडिशियल रिव्यू ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव एक्शन, चौथा संस्करण, पृष्ठ 285–86)

द्वितीयतः स्थान पर चूँकि विचारण न्यायालय का प्रत्याहरण के लिए सहमति देने या देने से इंकार करने का पर्यवेक्षी कार्य न्यायिक कार्य है इसलिए वह पुरानी तथा वर्तमान दंड प्रक्रिया संहिता दोनों के अंतर्गत उच्च न्यायालय के पुनरीक्षण शक्तियों के अधीन सुधार योग्य है तथा स्वाभाविक रूप से यह न्यायालय विशेष अनुमति द्वारा या उच्च न्यायालय द्वारा प्रमाण-पत्र पर पसंद की गई अपील में उच्च न्यायालय के साथ कम से कम समविस्तृत क्षेत्राधिकार रखेगा।

तृतीयतः, अपीलकर्ता के अधिवक्ता द्वारा अभिवचित किए अनुसार धारा 321 के प्रयोजनों हेतु इस न्यायालय द्वारा एक ओर राजनीतिक अपराधों या समरूप अपराधों तथा

दूसरी ओर सामान्य विधि अपराधों के बीच कोई ऐसा द्विभाजन नहीं किया गया कहा जा सकता है क्योंकि राजनीतिक अपराध कहलाने वाले या समरूप अपराधों में भी सामान्य विधि अपराध किए जाते हैं जिनके अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु धारा 321 की शक्ति का सहारा लेना पड़ता है। किन्तु इस न्यायालय के निर्णय यह प्रतिपादित करते हैं कि जब सामान्य विधि अपराध राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं या विचारों से प्रेरित हों या वे या उनके पश्चात् जन आंदोलनों, सांप्रदायिक उन्मादों, क्षेत्रीय विवादों, औद्योगिक संघर्षों, छात्र अशांति या समरूप स्थितियों में भावनात्मक मुद्दों से उत्पन्न हिंसा से भरे वातावरण में किए जाते हैं तो लोक न्याय, लोक व्यवस्था तथा शांति का व्यापक कारण किसी विशेष मुकदमे में आपराधिक न्याय प्रशासन के लोक हित पर भारी पड़ सकता है तथा दोषसिद्धि की निश्चितता के बावजूद उस मुकदमे के अभियोजन से प्रत्याहरण आवश्यक हो जाता है तथा विधि की पुष्टि के नाम पर अभियोजन में दृढ़ता बरतना प्रतिकारी सिद्ध हो सकता है। दूसरे शब्दों में ऐसे दो प्रकार के लोक हितों के संघर्ष की स्थिति में संकीर्ण लोक हित को व्यापक लोक हित के आगे झुकना चाहिए तथा इसलिए प्रत्याहरण के लिए सहमति देने या देने से इंकार करने में प्रत्येक मामले में कौन-सा लोक हित प्रबल होना चाहिए इसका भारपूर्ण कर्तव्य न्यायालय पर डाला गया है। क्योंकि यह अवश्यंभावी नहीं है कि जब भी अपराध राजनीतिक रूप से प्रेरित हो या विस्फोटक स्थिति में भावनात्मक मुद्दों से उत्पन्न हो तो अभियोजन प्रत्याहृत किया जाना चाहिए। दृष्टांत के रूप में महात्मा गांधी की हत्या का मामला है जो एक अर्थ में राजनीतिक रूप से प्रेरित थी (पाकिस्तान को 55 करोड़ रुपये के हस्तांतरण के कारण) तथा उसके पश्चात् भावनात्मक मुद्दों से संलग्न विस्फोटक स्थिति उत्पन्न हुई जिसके परिणामस्वरूप देश में विशेष रूप से महाराष्ट्र में एक वर्ग के सदस्यों के विरुद्ध व्यापक हिंसा, आगजनी तथा भड़काऊ कार्य हुए किन्तु किसी ने प्रत्याहरण का सुझाव नहीं दिया तथा व्यक्तियों जिनमें एक राजनीतिक व्यक्तित्व भी शामिल था के अभियोजन को तार्किक अंत तक ले जाया गया जिसके परिणामस्वरूप दोषियों की दोषसिद्धि तथा राजनीतिक व्यक्तित्व की

निर्दोषता हुई। दूसरे शब्दों में ऐसे संघर्ष के प्रत्येक मामले में न्यायालय को विवेकपूर्ण ढंग से भारित कर निर्णय करना होता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि जब तक प्रश्नगत अपराध स्वयं राजनीतिक अपराध जैसे राजद्रोह न हों या राजनीतिक विचारों से प्रेरित न हों या जन आंदोलनों, सांप्रदायिक उन्मादों, क्षेत्रीय विवादों, औद्योगिक संघर्षों, छात्र अशांति या समरूप स्थितियों में हिंसा से भरे वातावरण में उत्पन्न भावनात्मक मुद्दों में किए या उनके पश्चात् किए गए न हों तब तक लोक न्याय, लोक व्यवस्था या शांति के किसी व्यापक कारण की सेवा का प्रश्न ही नहीं उठता तथा उसके अभाव में किसी दिए गए मामले में आपराधिक न्याय प्रशासन के लोक हित को बलिदान नहीं दिया जा सकता विशेष रूप से जब अपराध में कोई उच्च पदस्थ व्यक्ति कथित रूप से संलिप्त हो क्योंकि अन्यथा सामान्य व्यक्ति का विधि के शासन तथा लोकतांत्रिक मूल्यों में विश्वास डगमगा जाएगा।

चतुर्थतः, आर.के. जैन मामले (उपर्युक्त) का निर्णय स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि जब साक्ष्य की कमी या सफल अभियोजन की संभावना का अभाव प्रत्याहरण का आधार हो तो न्यायालय को न केवल शक्ति अपितु कर्तव्य है कि वह अभिलेख पर सामग्री की जाँच करे बिना जिसके ऐसे आधार की वैधता तथा समीचीनता निर्धारित नहीं की जा सकती। उस मामले में इस न्यायालय ने दो समूहों की अपीलों का निपटारा किया एक जहाँ जॉर्ज फर्नांडिस तथा अन्यों के विरुद्ध अभियोजन से प्रत्याहरण इस आधार पर था कि अपराध राजनीतिक चरित्र के थे तथा दूसरा चौधरी बंसी लाल के विरुद्ध चार मामलों में अभियोजन से प्रत्याहरण के संबंध में था इस आधार पर कि उपलब्ध साक्ष्य अल्प था तथा चार में से एक मामले में शिकायतकर्ता (श्री मनोहर लाल) को उचित तथा लाभप्रद रूप से प्रतिकर दिया जा चुका था। न्यायालय ने दोनों समूहों की अपीलों में प्रत्याहरण हेतु अनुमति प्रदान करने को अक्षुण्ण रखा—प्रथम समूह में इस आधार पर कि जॉर्ज फर्नांडिस तथा अन्यों द्वारा किए गए कहे जाने वाले अपराध राजनीतिक चरित्र के थे अभियुक्तों को आरोपित आशय यह था कि वे श्रीमती गांधी के नेतृत्व वाली सरकार को परिवर्तित करना चाहते थे तथा इसलिए सरकार के

परिवर्तन के साथ लोक न्याय के व्यापक उद्देश्य प्रत्याहरण को उचित ठहराते थे जबकि दूसरे समूह में न्यायालय ने अभिलेख पर उपलब्ध समस्त सामग्री की जाँच की तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि प्रस्तुत आधार सिद्ध हो गया है तथा प्रत्याहरण को उचित ठहराया। यह कहा जा सकता है कि एम.एन.एस. नायर बनाम पी.वी. बालकृष्णन एवं अन्य में सत्र न्यायालय तथा उच्च न्यायालय ने जालसाजी, ठगी आदि अपराधों से संलग्न मामले के अभियोजन से प्रत्याहरण की अनुमति प्रदान की थी इस आधार पर कि विवाद दीवानी प्रकृति का था कि विचारण में आगे कार्यवाही करने में अत्यधिक विलंब हुआ था तथा साक्ष्य सुरक्षित करने में राज्य के लिए भारी व्यय होगा क्योंकि साक्षी दूरस्थ स्थानों में थे। इस न्यायालय ने अपील स्वीकार की प्रत्याहरण हेतु प्रदत्त अनुमति निरस्त की तथा विधि के अनुसार विचारण आगे बढ़ाने का निर्देश दिया इस अभिनिर्धारण के पश्चात् कि आरोपित कोई भी आधार या उनके संचयी प्रभाव भी अभियोजन से प्रत्याहरण को उचित नहीं ठहराते विशेष रूप से अभिलेख पर सामग्री की जाँच करने के पश्चात् इस न्यायालय ने इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि निचली न्यायालयों का यह निष्कर्ष कि विवाद दीवानी प्रकृति का था त्रुटिपूर्ण था। इस प्रकार स्पष्ट है कि जब साक्ष्य की कमी या सफल अभियोजन की संभावना का अभाव प्रत्याहरण का आधार हो तो इस न्यायालय को ऐसे आधार की वैधता या समीचीनता निर्धारित करने हेतु सामग्री की जाँच अवश्य करनी होती है। उपर्युक्त विधिक सिद्धांतों के प्रकाश में इस अपील में उठने वाले दो प्रश्नों का निर्णय किया जाना होगा।

अपीलकर्ता के अधिवक्ता द्वारा उठाया गया अगला प्रश्न यह था कि क्या श्री ललन प्रसाद सिन्हा अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने के सक्षम अधिकारी थे तथा यदि हाँ तो क्या उन्होंने अपना कार्य स्वतंत्र रूप से स्वतंत्र एजेंट के रूप में निर्वाहित किया। इस संबंध में अधिवक्ता ने तर्क दिया कि राज्य सरकार द्वारा दं.प्र.सं. की धारा 24(8) के अंतर्गत दिनांक 26 फरवरी, 1979 को इस मामले के संचालन हेतु विशेष लोक अभियोजक के रूप में श्री ए.के. दत्त की प्रारंभिक नियुक्ति रद्द नहीं की गई थी, कि श्री ललन प्रसाद सिन्हा को विधि

(न्याय) विभाग के पत्र सं. सी/मिस.-8-43/78 जे दिनांक 24 फरवरी, 1981 के अंतर्गत गठित नए पैनल पर नियुक्त चार लोक अभियोजकों में से मात्र एक माना जा सकता है तथा कि यद्यपि यह विशेष मामला दिनांक 24 फरवरी, 1981 के पत्र द्वारा उन्हें आवंटित किया गया था तथापि श्री ए.के. दत्त के ऊपर उनके पास अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने का कोई प्राधिकार नहीं था तथा इस प्रकार उनके द्वारा किया गया आवेदन अनधिकृत तथा अवैध होगा तथा परिणामस्वरूप न्यायालय का दिनांक 20 जून, 1981 का आदेश दूषित होगा। अधिवक्ता ने आगे तर्क दिया कि राज्य सरकार ने इस मामले में राज्य तथा लोक नीति के कारणों से अभियोजन की अनुपयुक्तता के आधारों पर अभियोजन से प्रत्याहरण करने का निर्णय पहले ही ले लिया था, कि उक्त निर्णय श्री ललन प्रसाद सिन्हा को सूचित किया गया था जिन्हें उस दिशा में कदम उठाने का निर्देश दिया गया था तथा कि ऐसे निर्देश के अनुसरण में उन्होंने आवेदन किया तथा स्वतंत्र रूप से स्वयं स्वतंत्र एजेंट के रूप में नहीं तथा इसलिए लोक अभियोजक की ओर से कार्यपालकीय कार्य (यह मानते हुए कि उनके पास आवेदन करने का प्राधिकार था) अनुचित रूप से संपादित किया गया। इनमें से किसी अभिवचन को स्वीकार करना संभव नहीं है उन कारणों से जो हम शीघ्र संकेतित करेंगे।

यह सत्य है कि पूर्ववर्ती सरकार द्वारा इस मामले के संचालन हेतु विशेष लोक अभियोजक के रूप में श्री ए.के. दत्त की नियुक्ति रद्द नहीं की गई थी यद्यपि समीचीनता में नई सरकार को ऐसा करना चाहिए था किन्तु इससे नई सरकार को लोक अभियोजक की नई नियुक्ति करने तथा उसे मामले का प्रभारी बनाने से नहीं रोका गया। लोक अभियोजकों की नियुक्तियाँ सामान्यतः धारा 24(3) के अंतर्गत आती हैं किन्तु जब राज्य सरकार किसी मामले या मामलों के वर्ग के प्रयोजन से लोक अभियोजक नियुक्त करती है तो नियुक्त व्यक्ति धारा 24(8) के अंतर्गत विशेष लोक अभियोजक बन जाते हैं तथा वर्तमान मामले में विधि (न्याय) विभाग के दिनांक 24 फरवरी, 1981 के पत्र के अंतर्गत श्री ललन प्रसाद सिन्हा सहित 4 अधिवक्ताओं का नया पैनल "पटना में मुख्यालय तथा पटना के बाहर निगरानी

विभाग से संबंधित मामलों के संचालन हेतु" गठित किया गया था तथा इसलिए श्री ललन प्रसाद सिन्हा को धारा 24(8) के अंतर्गत विशेष लोक अभियोजक के रूप में नियुक्त माना जाएगा। किन्तु मामले के इस पहलू से अलग मामले में प्राप्त तथ्यों पर यह विवादित नहीं किया जा सकता कि श्री ए.के. दत्त ने सुनवाई के किसी स्तर पर विशेष न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित न होकर कभी मामले का *वास्तविक* प्रभार नहीं लिया था न ही मामले का वास्तविक संचालन किया था; इसके विपरीत मामले के उनके लिए आवंटन के पश्चात् श्री ललन प्रसाद सिन्हा मामले के प्रभारी थे तथा वास्तविक रूप से मामले का संचालन कर रहे थे क्योंकि उन्होंने कम से कम चार अवसरों पर (दिनांक 6 अप्रैल, 21 अप्रैल, 27 अप्रैल तथा 26 मई, 1981 को) विशेष न्यायाधीश के समक्ष मामले में उपस्थित होना स्वीकार किया है तथा इसलिए हमारे मत में वे प्रत्याहरण के मामले में आवश्यक आवेदन करने के उचित व्यक्ति थे। इस संदर्भ में यह इंगित करना उपयोगी होगा कि पुरानी संहिता की धारा 494 "किसी लोक अभियोजक" को न्यायालय की सहमति से अभियोजन से प्रत्याहरण करने की प्रतीत होती अनुमति देती थी किन्तु इस न्यायालय ने *पंजाब राज्य बनाम सुरजीत सिंह एवं अन्य*[5] में अभिनिर्धारित किया था कि "हमारे मत में धारा 494 पर रखी जाने वाली युक्तियुक्त व्याख्या यह है कि केवल वही लोक अभियोजक जो किसी विशेष मामले का प्रभारी है तथा वास्तविक रूप से अभियोजन का संचालन कर रहा है उस धारा के अंतर्गत प्रत्याहरण की अनुमति मांगने हेतु आवेदन दाखिल कर सकता है।" इसी मत को इस न्यायालय ने *एम.एन.एस. नायर बनाम पी.वी. बालकृष्णन (उपर्युक्त)* मामले में पुनरुक्त किया। वर्तमान धारा 321 दं.प्र.सं. ने इस न्यायालय के उपर्युक्त मत को विधायी मान्यता प्रदान की है चूँकि वह स्पष्ट रूप से उपबंधित करती है कि मामले के "प्रभारी लोक अभियोजक" न्यायालय की सहमति से अभियोजन से प्रत्याहरण कर सकता है। हमें संतुष्टि है कि यद्यपि फरवरी 1979 में इस मामले के संचालन हेतु विशेष लोक अभियोजक के रूप में नियुक्त किए गए थे श्री

---

5 [1967] 2 एस. सी. आर. 347

ए.के. दत्त प्रासंगिक समय में न तो मामले के प्रभारी थे न ही वास्तविक रूप से उसका संचालन कर रहे थे तथा चूँकि श्री ललन प्रसाद सिन्हा न केवल मामले के प्रभारी थे अपितु वास्तविक रूप से मामले का संचालन कर रहे थे इसलिए वे अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने के उचित अधिकारी थे।

इसी प्रकार यह अभिवचन कि श्री ललन प्रसाद सिन्हा ने राज्य सरकार के आदेश पर अभियोजन से प्रत्याहरण मांगा था इसमें कोई सार नहीं है। यह सत्य है कि राज्य सरकार ने उत्तरदाताओं सं. 2, 3 तथा 4 के विरुद्ध मामले में अभियोजन से प्रत्याहरण करने का अपना निर्णय लिया था तथा यह भी सत्य है कि उक्त निर्णय श्री ललन प्रसाद सिन्हा को सूचित किया गया था किन्तु यदि दो पत्रों— पहला दिनांक 25 फरवरी 1981 विधि सचिव से जिला दंडाधिकारी को तथा दूसरा दिनांक 26 मार्च 1981 अतिरिक्त कलक्टर, प्रभारी विधिक अनुभाग, से विशेष लोक अभियोजक, प्रभारी निगरानी मामले को—की सावधानीपूर्वक जाँच की जाए तो स्पष्ट होगा कि राज्य सरकार ने श्री ललन प्रसाद सिन्हा को (जिसके लिए वह हकदार थी) मात्र अभियोजन से प्रत्याहरण करने का सुझाव दिया था किन्तु साथ ही उसे मामले पर स्वयं विचार करने तथा उसके संबंध में स्वयं संतुष्ट होने के पश्चात् आवश्यक आवेदन करने को कहा था जो उन्होंने दिनांक 17 जून, 1981 को किया तथा आवेदन में पाई जाने वाली पुनरुक्ति पर संदेह करने की कोई सामग्री नहीं है कि उन्होंने स्वयं मामले से संबद्ध प्रासंगिक सामग्री पर विचार किया था तथा उस संबंध में स्वयं के निष्कर्ष पर पहुँचे थे। हम इस तर्क से प्रभावित नहीं हैं कि श्री ललन प्रसाद सिन्हा की नियुक्ति केवल प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने के लिए की गई थी न कि मामले के संचालन के लिए। इसलिए अपीलकर्ताओं का अभिवचन निरस्त किया जाना चाहिए।

अगला महत्वपूर्ण प्रश्न जो विचारण हेतु उठता है वह यह है कि क्या निगरानी थाना कांड सं. 9 (2) 78 में उत्तरदाताओं सं. 2, 3 तथा 4 के अभियोजन से प्रत्याहरण तथ्यों पर तथा विधि में अनुचित, अनुचित या अवैध था। दूसरे शब्दों में वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या

लोक अभियोजक का कार्यपालकीय कार्य तथा/या विचारण न्यायालय का पर्यवेक्षी कार्य प्रत्याहरण हेतु सहमति देने में अनुचित रूप से संपादित किया गया है या किसी अवैधता के कारण दूषित है? यह चार आधारों पर विचार करने की आवश्यकता होगी जिन पर लोक अभियोजक द्वारा प्रत्याहरण मांगा गया था तथा विचारण न्यायालय द्वारा धारा 321 दं.प्र.सं. के अंतर्गत अनुमति प्रदान की गई थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है राज्य सरकार के सुझाव के अनुसरण में तथा स्वयं मामले पर विचार करने के पश्चात् श्री ललन प्रसाद सिन्हा ने अपने दिनांक 17 जून, 1981 के आवेदन में अभियोजन से प्रत्याहरण के लिए चार आधार विशिष्ट रूप से उल्लिखित किए अर्थात् (क) साक्ष्य के प्रकाश में सफल अभियोजन की संभावना का अभाव, (ख) राजनीतिक तथा व्यक्तिगत विद्वेष के फलस्वरूप व्यक्तियों का फंसाया जाना, (ग) राज्य तथा लोक नीति के कारणों से अभियोजन की अनुपयुक्तता तथा (घ) परिवर्तित स्थिति के प्रकाश में अभियोजन जारी रखने से लोक हित पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभाव। महत्वपूर्ण रूप से विद्वान विशेष न्यायाधीश ने श्री ललन प्रसाद सिन्हा के निवेदनों का सारांश देने के पश्चात् जो आवेदन में किए गए अभिवचनों तथा आधारों के अनुसार थे दिनांक 20 जून, 1981 को संक्षिप्त तर्कयुक्त आदेश पारित किया निम्नानुसार :

> "सर्वोच्च न्यायालय द्वारा स्पष्ट की गई विधिक स्थिति (आर.के. जैन मामले में) तथा इस मामले के प्रभारी विद्वान विशेष लोक अभियोजक द्वारा किए गए निवेदनों तथा मामले के प्रासंगिक अभिलेखों का अवलोकन करने के पश्चात् मैं संतुष्ट हूँ कि यह ऐसा उपयुक्त मामला है जिसमें विद्वान विशेष लोक अभियोजक के प्रत्याहरण हेतु प्रार्थना को अनुमति दी जानी चाहिए तथा इसलिए अनुमति दी जाती है। परिणामस्वरूप विशेष लोक अभियोजक श्री ललन प्रसाद सिन्हा को अभियोजन से प्रत्याहरण की अनुमति प्रदान की जाती है तथा दं.प्र.सं.

की धारा 321(क) के दृष्टिगत अभियुक्त व्यक्ति आरोप मुक्त किए जाते हैं।”

दूसरे शब्दों में विद्वान विशेष न्यायाधीश ने प्रत्याहरण मांगे गए सभी आधारों को स्वीकार किया तथा उन आधारों पर अभियोजन से प्रत्याहरण की अनुमति प्रदान की। प्रश्न यह है कि क्या निगरानी थाना कांड सं. 9 (2) 78 ऐसा था जो उन आधारों को आकर्षित करता था तथा यदि आधार आकर्षित भी होते थे तो क्या अभियोजन से प्रत्याहरण उचित ठहराया जाता था?

उपर्युक्त चार आधारों में से मैं आधार (ख), (ग) तथा (घ) से प्रथम निपटूँगा तथा आधार (क) से बाद में। उपर्युक्त चर्चित विधिक सिद्धांतों के प्रकाश में यह विवादित नहीं किया जा सकता कि राज्य या लोक नीति के कारणों से अभियोजन की अनुपयुक्तता जैसे आधार, अभियुक्त व्यक्तियों का राजनीतिक तथा/या व्यक्तिगत विद्वेष से फंसाया जाना तथा परिवर्तित स्थिति के प्रकाश में अभियोजन जारी रखने से लोक हित पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभाव लोक न्याय, लोक व्यवस्था तथा शांति के व्यापक कारण पर प्रभाव डालते हैं तथा उचित हैं जो किसी दिए गए मामले में किसी विशेष मुकदमे में आपराधिक न्याय प्रशासन के संकीर्ण लोक हित पर भारी पड़ सकते हैं या उससे ऊपर उठ सकते हैं जिससे उत्तरवर्ती के प्रत्याहरण की आवश्यकता हो जाती है किन्तु जैसा कि पहले अवलोकित किया गया है लोक न्याय, लोक व्यवस्था या शांति के किसी व्यापक कारण की सेवा का प्रश्न ही नहीं उठ सकता जब तक कि कथित रूप से किए गए अपराध स्वयं राजनीतिक अपराध न हों या राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं या विचारों से प्रेरित न हों या जन आंदोलनों, सांप्रदायिक उन्मादों, क्षेत्रीय विवादों, औद्योगिक संघर्षों, छात्र अशांति या समरूप स्थितियों में भावनात्मक मुद्दों से उत्पन्न हिंसा से भरे वातावरण में किए गए या उनके पश्चात् किए गए न हों। स्वीकारोक्ति से उत्तरदाता सं. 2 द्वारा अन्य अभियुक्तों के साथ मिलीभगत से किए गए कहे जाने वाले रिश्वतखोरी (आपराधिक कदाचार) तथा जालसाजी के अपराध सामान्य विधि अपराध हैं तथा

वे किसी जन आंदोलन या सांप्रदायिक उन्माद या क्षेत्रीय विवाद या औद्योगिक संघर्ष या छात्र अशांति या समरूप विस्फोटक स्थिति में भावनात्मक मुद्दों से उत्पन्न हिंसा से भरे किसी वातावरण में किए गए या उनके पश्चात् किए गए नहीं थे; आगे यह विवादित नहीं किया जा सकता कि ये स्वयं राजनीतिक अपराध नहीं हैं न ही किसी राजनीतिक प्रेरणा से किए गए थे; वस्तुतः उनके पीछे की प्रेरक शक्ति मात्र श्री नवल किशोर सिन्हा, एक निकट मित्र, को आपराधिक तथा दीवानी दायित्व से संरक्षण तथा ढाल प्रदान करना था—एक पक्षपात जो उत्तरदाता सं. 2 द्वारा बिहार के मंत्री या मुख्य मंत्री के रूप में अपनी स्थिति का दुरुपयोग कर कथित रूप से आपराधिक कदाचार के रूप में लिप्त किया गया। इसलिए यदि अपराधों में कोई राजनीतिक चरित्र नहीं था न ही वे किसी विस्फोटक स्थिति में भावनात्मक मुद्दों से उत्पन्न हिंसा से भरे वातावरण में किए गए या उनके पश्चात् किए गए थे तो लोक न्याय, लोक व्यवस्था या शांति की किसी व्यापक सेवा का प्रश्न ही नहीं उठता तथा उसके अभाव में इस विशेष मामले में आपराधिक न्याय प्रशासन के लोक हित को बलिदान नहीं दिया जा सकता था। दूसरे शब्दों में यह एक सामान्य आपराधिक मामला है जिसमें सामान्य विधि अपराधों अर्थात् रिश्वतखोरी तथा जालसाजी का कमीशन सामान्य सामान्य परिस्थितियों में स्वार्थवृद्धि या पक्षपात को प्रेरक शक्ति के रूप में शामिल है इसलिए आधार (ख), (ग) तथा (घ) प्रत्याहरण के मुद्दे से अप्रासंगिक तथा बाह्य थे तथा चूँकि स्वीकारोक्ति से ये विचार लोक अभियोजक द्वारा प्रत्याहरण मांगने के निर्णय तथा विचारण न्यायालय द्वारा अनुमति देने के निर्णय को निर्विवाद रूप से प्रभावित करने वाले थे इसलिए आक्षेपित अभियोजन से प्रत्याहरण विधि में दूषित माना जाएगा।

उत्तरदाताओं के अधिवक्ता ने अभिवचित किया कि चुनावों के परिणामस्वरूप स्थिति में परिवर्तन आया था, कि उत्तरदाता सं. 2 की पार्टी ने जनता का जनादेश प्राप्त किया था तथा सत्ता में मतदान द्वारा लाई गई थी, कि उत्तरदाता सं. 2 राज्य के मुख्य मंत्री बन गए थे तथा राज्य प्रमुख के विरुद्ध अभियोजन से लोक हित पर जिसमें लोक व्यवस्था तथा शांति शामिल

है प्रतिकूल प्रभाव पड़ता तथा इसलिए उसके जारी रखने को राज्य तथा लोक नीति के कारणों से अनुपयुक्त माना गया। मैं अभिवचन की सराहना करने में असफल रहा हूँ; क्योंकि चुनावों द्वारा एक या दूसरी पार्टी को सत्ता में लाने से उत्पन्न स्थिति में परिवर्तन का साधारण सामान्य विधि अपराधों अर्थात् रिश्वतखोरी (आपराधिक कदाचार) तथा जालसाजी के लिए अभियोजन जारी रखने से क्या लेना-देना है विशेष रूप से जब अपराध किसी राजनीतिक प्रेरणा से प्रेरित नहीं थे न ही वे किसी विस्फोटक स्थिति में भावनात्मक मुद्दे से संलग्न थे या उनके पश्चात् किए गए थे? कोई भावनात्मक मुद्दा शामिल नहीं था या है। निश्चय ही उपर्युक्त पहलुओं के अभाव में चुनाव के किसी परिणाम को, चाहे वह कितना भी व्यापक हो, उन व्यक्तियों द्वारा कथित रूप से किए गए सामान्य विधि अपराधों को माफ करने या समझौता करने के जनता के जनादेश के रूप में व्याख्या नहीं किया जा सकता जिन्हें सत्ता में पुनः निर्वाचित किया गया है; वस्तुतः जनादेश की ऐसी व्याख्या सभी लोकतांत्रिक सिद्धांतों के विरुद्ध होगी। चुनावी सफलता सभी गंदगी को कालीन के नीचे छिपाने तथा फलों का निश्चिंत उपभोग करने की लाइसेंस नहीं है। इसके अतिरिक्त सामान्य विधि अपराधों (जो किसी राजनीतिक चरित्र के भागी नहीं हैं या किसी विस्फोटक स्थिति में भावनात्मक मुद्दे से संलग्न नहीं हैं) के अभियोजन जारी रखने से लोक हित जिसमें लोक व्यवस्था तथा शांति शामिल है प्रतिकूल रूप से प्रभावित होगा यह आशंका विस्थापित है क्योंकि जो हो सकता है वह केवल इतना है कि उत्तरदाता सं. 2 को पद त्यागना पड़ेगा तथा इससे अधिक कुछ नहीं। सरकार के अस्थिरीकरण का कोई भय पूर्णतः विस्थापित है। इसके विपरीत ऐसे अपराधों के अभियोजन से प्रत्याहरण आपराधिक न्याय प्रशासन के सामान्य क्रम में हस्तक्षेप करेगा तथा चूँकि उत्तरदाता सं. 2 उच्च पद पर स्थित हैं यह विधि के शासन तथा न्याय प्रशासन में सामान्य व्यक्ति के विश्वास को प्रभावित करने के लिए बाध्य है। इसके अतिरिक्त जैसा कि मैं बाद में इंगित करूँगा यदि उत्तरदाता सं. 2 द्वारा अन्य अभियुक्तों के साथ मिलीभगत से किए गए कहे जाने वाले अपराधों का प्रमाण दस्तावेजी साक्ष्य पर आधारित था जिसकी

प्रामाणिकता विवाद में नहीं है तो राजनीतिक तथा व्यक्तिगत विद्वेष या अनुचित तथा अति उत्साही जाँच का प्रश्न ही नहीं उठता। मेरे मत में सभी तथ्यों तथा परिस्थितियों में आधार (ख), (ग) तथा (घ) वर्तमान मामले में आकर्षित नहीं थे तथा प्रत्याहरण के मुद्दे से अप्रासंगिक तथा बाह्य थे तथा चूँकि इन आधारों ने लोक अभियोजक के कार्यपालकीय कार्य तथा विचारण न्यायालय के पर्यवेक्षी न्यायिक कार्य को प्रभावित किया था इन कार्यों का संपादन दूषित है। उच्च न्यायालय ने इन आधारों को स्वीकार करने वाले विचारण न्यायालय के आदेश पर मात्र अपनी मुहर लगा दी है। विचारण न्यायालय द्वारा अनुमति प्रदत्त तथा उच्च न्यायालय द्वारा पुष्टि की गई आक्षेपित प्रत्याहरण जहाँ तक वह इन आधारों पर आधारित है विधि में बुरा होगा।

मैं अब अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु प्रस्तुत आधार (क) से निपटने के लिए आगे बढ़ता हूँ। सारतः आधार यह था कि आरोपों को साबित करने हेतु साक्ष्य की कमी के दृष्टिगत सफल अभियोजन की कोई संभावना नहीं थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है जब ऐसा आधार हो तो न्यायालय का कर्तव्य है कि वह सामग्री की जाँच करे यह पता लगाने के लिए कि क्या आधार वैध था या उपलब्ध सामग्री अभियुक्त के विरुद्ध *प्रथम दृष्टया* मामला बनाने तथा उसे विचारण में डालने हेतु पर्याप्त थी? तथा मैं समस्या का दृष्टिकोण कड़ाई से इसी कोण से करूँगा।

उत्तरदाताओं सं. 2, 3 तथा 4 तथा तीन अन्यों के विरुद्ध उपर्युक्त अभियोजन आरंभ होने के कारण देने वाले तथ्य निम्नानुसार कहे जा सकते हैं : पटना शहरी सहकारी बैंक का मई 1970 में पंजीकरण हुआ तथा उसने नवल किशोर सिन्हा को अपने अध्यक्ष के रूप में बैंकिंग व्यवसाय प्रारंभ किया, के.पी. गुप्ता उसके मानद सचिव थे, एम.ए. हैदरी उसके प्रबंधक तथा ए.के. सिंह ऋण लिपिक (जो एन.के. सिन्हा के देखभालकर्ता तथा निजी सहायक के रूप में भी कार्य करते थे)। एक ऋण उप-समिति जिसमें एन.के. सिन्हा अध्यक्ष, के.पी. गुप्ता सचिव तथा एक श्री पुरंदम नारायण, अधिवक्ता शामिल थे ऋणों के स्वीकृति तथा प्रदान

करने का कार्य देखती थी। उसके उप-नियमों के अंतर्गत अध्यक्ष बैंक के सभी कार्यों के संबंध में अंतिम प्राधिकारी थे तथा मानद सचिव को अध्यक्ष के साथ बैंक की सभी गतिविधियों पर पर्यवेक्षी नियंत्रण करना होता था जबकि प्रबंधक उसके दैनिक कार्य से संबंधित था। डॉ. जगन्नाथ मिश्र, जो उस समय विधान परिषद सदस्य थे तथा जो बाद में बिहार मंत्रिमंडल में मंत्री तथा मुख्य मंत्री बने बैंक तथा उसके अध्यक्ष (एन.के. सिन्हा उनके निकट सहयोगी तथा विश्वासपात्र होने के कारण) की कई प्रकार से सहायता करते थे जिसमें बैंक हेतु संसाधनों का संग्रहण शामिल था। वर्ष 1972-73 तथा 1973-74 के लिए भारतीय रिजर्व बैंक तथा बिहार सरकार के सहकारिता विभाग द्वारा बैंक के कार्य की पृथक-पृथक लेखा परीक्षाएँ की गईं जिनके क्रम में बड़ी संख्या में अनियमितताएँ (जैसे नकद पुस्तकों का उचित ढंग से रखरखाव न करना, चालू खाता बिना ओवरड्राफ्ट सुविधा प्रदान करना आदि), अवैध प्रथाएँ, निधियों के गबन तथा दुरुपयोग के कार्य प्रकाश में आए; विशेष रूप से लेखा परीक्षा प्रतिवेदनों से प्रकट हुआ कि लाखों रुपये की बड़ी राशियाँ (क) गैर-सदस्यों को ऋण देकर, (ख) आवेदन, करार या प्रोन्नोट बिना भी ऋण देकर, (ग) बंधक बिना ऋण देकर, (घ) बंधक माल की बिक्री आय पर नकद प्राप्त करने के स्थान पर अल्पकालिक ऋण देकर, (ङ) एक ही व्यक्तियों को विभिन्न नामों से ऋण देकर तथा (च) काल्पनिक व्यक्तियों तथा गैर-मौजूद फर्मों या उद्योगों को ऋण देकर आदि व्यय की गईं तथा भारतीय रिजर्व बैंक की लेखा परीक्षा टीम ने अपने प्रतिवेदन में इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अध्यक्ष श्री नवल किशोर सिन्हा तथा अन्य 'खराब ऋणों' के लिए 12 लाख रुपये तथा 'गबन तथा दुरुपयोग' के लिए 25 लाख रुपये के लिए उत्तरदायी तथा जवाबदेह थे। इन लेखा परीक्षा प्रतिवेदनों के आधार पर भारतीय रिजर्व बैंक के इशारे पर दिनांक 10 जुलाई, 1974 को सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार के आदेशों के अंतर्गत बैंक का प्रबंधन उसके निदेशक मंडल के माध्यम से अधिग्रहीत कर लिया गया तथा नवल किशोर सिन्हा अध्यक्ष तथा मंडल पर अन्य निदेशकों

को हटा दिया गया तथा बैंक के मामलों की देखभाल हेतु बिहार सरकार के सहकारिता विभाग के एक अधिकारी को विशेष अधिकारी नियुक्त किया गया।

उपर्युक्त लेखा परीक्षा प्रतिवेदनों के बल पर सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार संयुक्त रजिस्ट्रार से सहमत होकर दिनांक 4.11.1974 की टिप्पणी सहकारिता सचिव को प्रस्तुत की जिसमें कहा गया कि बैंक के अधिकारियों के विरुद्ध गबन, षड्यंत्र आदि के *प्रथम दृष्टया* आरोप सिद्ध होते हैं तथा लोक अभियोजक की राय लेने के पश्चात् उनके विरुद्ध विधिक कार्यवाही की जाए; सचिव ने दिनांक 7.11.1974 की अपनी टिप्पणी से विधि विभाग की राय मांगी तथा दिनांक 18.11.1974 को विधि विभाग ने संबंधित संचिका (सहकारिता विभाग की संचिका सं. IX/विधिक-9/75) में अपनी राय अभिलिखित की कि बैंक के ऋणियों तथा पदाधिकारियों के विरुद्ध षड्यंत्र तथा आपराधिक विश्वासघात का *प्रथम दृष्टया* मामला सिद्ध होता है। दिनांक 16.12.1974 को पटना के सहायक लोक अभियोजक द्वारा पटना के मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी के समक्ष दाखिल करने हेतु शिकायत का प्रारूप तैयार किया गया; उसी दिन (16.12.1974) श्री बिमल द्वारा संचिका पर कार्यालय टिप्पणी की गई जिसमें सुझाव दिया गया कि शिकायत प्रारूप पर विधि विभाग की सलाह प्राप्त की जाए जिस कार्यपद्धति को सहकारिता सचिव द्वारा दिनांक 16.12.1974 को, सहकारिता मंत्री (श्री उमेश प्रसाद वर्मा) द्वारा दिनांक 1.1.1975 को तथा तत्कालीन मुख्य मंत्री (श्री ए. गफूर) द्वारा दिनांक 2.1.75 को अनुमोदित किया गया। तदनुसार संचिका विधि विभाग को भेजी गई जिसने अभियोजन आरंभ करने की अपनी पूर्व राय दोहराई तथा दिनांक 18.1.1975 को संचिका वापस प्राप्त होने पर सहकारिता सचिव ने दिनांक 21.1.1975 को संचिका को सहायक लोक अभियोजक श्री गिरीश नारायण सिन्हा को आवश्यक कार्यवाही अर्थात् अभियोजन दाखिल करने हेतु समर्थित किया (उत्तरदाताओं द्वारा भरोसा की गई संचिका सं. IX/विधिक-9/75 में की गई कई टिप्पणियों के अनुसार)। दूसरे शब्दों में दिनांक 21.1.1975 तक बैंक के ऋणियों तथा निदेशक मंडल के सदस्यों के विरुद्ध आपराधिक अभियोजन आरंभ करने का मंच तैयार हो चुका था

जिसमें नवल किशोर सिन्हा मुख्य अभियुक्त थे तथा उस संबंध में विधि विभाग द्वारा विधिवत् अनुमोदित तथा पटना के जिला सहकारिता अधिकारी श्री जगदीश नारायण वर्मा द्वारा दिनांक 25.1.1975 को हस्ताक्षरित शिकायत याचिका भी सहायक लोक अभियोजक के पास न्यायालय में दाखिल करने हेतु तैयार थी। किन्तु सहायक लोक अभियोजक द्वारा शिकायत दाखिल करने से पूर्व उत्तरदाता सं. 2 (जगन्नाथ मिश्र, कृषि तथा सिंचाई मंत्री) ने दिनांक 24.1.1975 की बफ शीट स्व-टिप्पणी लिखी जिसमें सहकारिता सचिव से आपराधिक मामले की संस्थापना से पूर्व संबंधित संचिका लेखा परीक्षा प्रतिवेदनों सहित उन्हें भेजने को कहा। तदनुसार तत्कालीन सहकारिता मंत्री तथा तत्कालीन मुख्य मंत्री से उत्तरदाता सं. 2 को संचिका भेजने की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् सचिव ने दिनांक 28.1.1975 को सहायक लोक अभियोजक से संचिका तथा अन्य कागजात वापस मंगाए तथा दिनांक 24.2.1975 को उन्होंने संचिका मुख्य मंत्री के रास्ते विधि मंत्री को भेजी।यह कहा जा सकता है कि संविधान के अनुच्छेद 166(3) के अंतर्गत जारी दिनांक 30 अप्रैल, 1974 की अधिसूचना को बिहार राज्य की कार्यपालक व्यवसाय नियमों के नियम 5 के साथ पठित करने पर तत्कालीन मुख्य मंत्री श्री अब्दुल गफूर अन्य बातों के साथ-साथ विधि विभाग का पोर्टफोलियो भी रखते थे किन्तु हमारे समक्ष उत्तरदाता सं. 1 की ओर से दाखिल श्री नीलंद सिंह के दिनांक 19 अक्टूबर, 1982 के शपथ-पत्र के अनुसार श्री ए. गफूर ने अपने दिनांक 29-8-1974 की टिप्पणी द्वारा मुख्य सचिव को संबोधित तथा विभिन्न विभागों में परिचालित की जिसमें अपने भारी बोझ को कम करने के उद्देश्य से उत्तरदाता सं. 2 (जगन्नाथ मिश्र) से विधि विभाग के कार्य देखने का अनुरोध किया था तथा इस प्रकार दिनांक 24.2.1975 को संचिका को मुख्य मंत्री के रास्ते विधि मंत्री को समर्थित करना यह अर्थ रखेगा कि संचिका उत्तरदाता सं. 2 को गई होगी क्योंकि दिनांक 30 अप्रैल, 1974 की अधिसूचना के अंतर्गत मुख्य मंत्री स्वयं के सिवाय विधि पोर्टफोलियो रखने वाला कोई अन्य व्यक्ति नहीं था। अपीलकर्ता द्वारा यह दावा किया जाता है कि उत्तरदाता सं. 2 ने संचिका पर दो तथा आधे माह से अधिक

समय तक काबिज रहकर उसे दबाए रखा जब तक कि वे मुख्य मंत्री नहीं बन गए जबकि उत्तरदाताओं की ओर से यह सुझाया जाता है कि यद्यपि संचिका उत्तरदाता सं. 2 द्वारा दिनांक 24-1-1975 को मंगाई गई थी वह वास्तव में मई 1975 के मध्य तक उनके पास नहीं पहुँची थी। किन्तु उपर्युक्त विवाद की उपेक्षा करते हुए यह तथ्य बना रहता है कि शिकायत का दाखिल होना दिनांक 24-1-1975 (उत्तरदाता सं. 2 पर बफ शीट आदेश की तिथि) से मई 1975 के मध्य तक स्थगित हो गया तथा इस बीच दिनांक 11.4.1975 को उत्तरदाता सं. 2 ने श्री ए. गफूर की जगह मुख्य मंत्री के रूप में पद ग्रहण किया तथा मई 1975 के मध्य में मुख्य मंत्री के रूप में उत्तरदाता सं. 2 ने दो आदेश पारित किए जो अत्यंत सार्थक हैं।

दिनांक 16-5-1975 को संचिका सं. IX/विधिक-9/75 में उत्तरदाता सं. 2 ने नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों के विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही के संबंध में अपने हाथ से हिंदी में आदेश लिखा जिसका उत्तरदाताओं के अनुसार अंग्रेजी अनुवाद निम्नानुसार है :

> "बहुत समय बीत चुका है। संचिका के अवलोकन से प्रतीत होता है कि बैंक के अध्यक्ष तथा मंडल के सदस्यों के विरुद्ध कोई गबन का आरोप नहीं है। ऋणियों से ऋण की वसूली हेतु कठोर कार्यवाही की जाए तथा यदि ऋणियों से वसूली में कठिनाई हो तो निदेशक मंडल के विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियाँ आरंभ की जाएँ। वार्षिक साधारण सभा बुलाकर तथा चुनाव कराकर बैंक में सामान्य स्थिति बहाल की जाए।"
>
> (हस्ता.) जगन्नाथ मिश्र
>
> 16-5-1975

उपर्युक्त आदेश के विपरीत मार्जिन में डाक प्रविष्टि युक्त मुहर मूल रूप से दर्शाती थी कि दिनांक 16-5-1975 को मुख्य मंत्री के सचिवालय से संचिका सहकारिता विभाग को प्रेषित

की गई थी उत्तरदाता सं. 2 द्वारा उपर्युक्त आदेश करने के पश्चात्। यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त आदेश का आपराधिक संलिप्तता संबंधी प्रथम भाग भारतीय रिजर्व बैंक तथा सहकारिता विभाग के लेखा परीक्षा प्रतिवेदनों के विपरीत तथा विधि विभाग की राय के विरुद्ध है; इसने श्री नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों के विरुद्ध आपराधिक अभियोजन को विफल कर दिया जबकि उसके उत्तरवर्ती भाग के अंतर्गत ऋणियों से वसूली में चूक होने पर उनके विरुद्ध अपनाई जाने वाली अधिभार कार्यवाहियों द्वारा उन्हें दीवानी दायित्व के लिए अभी भी उजागर रखा गया किन्तु चूँकि ऋण अधिकांशतः काल्पनिक नामों में दिए गए थे तथा वास्तव में पदाधिकारियों द्वारा ही उपयोग किए गए थे इसलिए दीवानी दायित्व की संभावना उनके समक्ष बड़ी थी। यह स्थिति समझते हुए उत्तरदाता सं. 2 ने अनियमित रूप से—कोई समर्थन या मुख्य मंत्री के सचिवालय द्वारा संचिका की प्राप्ति दर्शाने वाली कोई मुहर न होने के कारण —संचिका को पुनः प्राप्त कर लिया तथा एक कागज के टुकड़े पर अपने हाथ से हिंदी में हस्ताक्षर सहित दूसरा आदेश पारित किया किन्तु पूर्व तिथि 14-5-1975 अंकित तथा उसे संचिका में पूर्ववर्ती दिनांक 16-5-1975 के आदेश पर चिपका दिया ताकि उसे पूर्णतः मिटाया जा सके तथा मार्जिन में दिखाई देने वाली प्रेषण मुहर में प्रेषण तिथि 16-5-1975 को ऊपर लिखकर 14-5-1975 में परिवर्तित कर दिया गया; इस द्वितीय आदेश का सहकारिता मंत्री को संबोधित अंग्रेजी अनुवाद निम्नानुसार है :

> "बैंक में वार्षिक साधारण सभा आयोजित करने के पश्चात् सामान्य स्थिति बहाल करने का आदेश जारी किया जाए।"
>
> (हस्ता.) जगन्नाथ मिश्र
>
> 14-5-1975

यह निर्विवाद है कि उत्तरदाता सं. 2 ने उपर्युक्त दोनों आदेश अपने हाथ से हिंदी में पारित किए थे, प्रथम दिनांक 16-5-1975 को तथा द्वितीय समय की दृष्टि से उसके पश्चात् किन्तु उसे पूर्वतिथि 14-5-1975 करके तथा उसे प्रथम आदेश पर चिपका कर प्रथम आदेश

को पूर्णतः मिटा दिया। उनके इस आचरण की व्याख्या केवल इस आधार पर की गई है कि मुख्य मंत्री के रूप में उन्हें अपना पूर्व आदेश पुनरीक्षित या समीक्षा करने का प्राधिकार तथा शक्ति थी तथा पटना सचिवालय में प्रचलित सामान्य प्रथा यह है कि जब कोई पूर्व में पारित आदेश को उसी अधिकारी या मंत्री द्वारा पुनरीक्षित या समीक्षा किया जाता है तो उसे संशोधित आदेश युक्त कागज के टुकड़े से चिपका कर किया जाता है (उत्तरदाता सं. 1 की ओर से दाखिल श्री बिधु शेखर बनर्जी के दिनांक 17-3-1982 के प्रति-शपथ-पत्र की कंडिका 8)। इस व्याख्या के साथ भी स्वीकार की गई स्थिति यह उभर कर आती है कि उपर्युक्त दोनों आदेश उत्तरदाता सं. 2 द्वारा पारित किए गए थे, कि द्वितीय आदेश को पूर्वतिथि 14-5-1975 दी गई थी तथा कि उसे संचिका पर इस प्रकार चिपकाया गया ताकि पूर्ववर्ती आदेश पूर्णतः मिट जाए। दूसरे शब्दों में पदार्थ तथा वास्तविकता में उत्तरदाता सं. 2 द्वारा संबंधित संचिका में दिनांक 16-5-1975 को पारित समस्त आदेश जिसमें चार निदेश थे अर्थात् (क) अध्यक्ष तथा बैंक मंडल के सदस्यों के विरुद्ध कोई गबन का आरोप न होने से कोई आपराधिकता संलग्न नहीं थी, (ख) ऋणियों से ऋण की वसूली हेतु कठोर कार्यवाही की जाए, (ग) ऐसा न होने पर निदेशक मंडल के विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियाँ आरंभ की जाएँ तथा (घ) वार्षिक साधारण सभा बुलाकर तथा चुनाव कराकर बैंक में सामान्य स्थिति बहाल की जाए, मिटा दिया गया तथा पूर्णतः द्वितीय आदेश से प्रतिस्थापित कर दिया गया जिसमें प्रथम आदेश का केवल अंतिम निदेश (उपर्युक्त मद (घ)) ही रखा गया। प्रभाव में द्वितीय आदेश के अंतर्गत नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों का आपराधिक तथा दीवानी दोनों दायित्व छोड़ दिया गया भारतीय रिजर्व बैंक तथा सहकारिता विभाग के लेखा परीक्षा प्रतिवेदनों के बावजूद तथा उत्तरदाता सं. 2 ने मात्र निदेश दिया कि बैंक में सामान्य स्थिति बहाल की जाए तथा यह परिणाम द्वितीय आदेश द्वारा लाया गया जो स्पष्ट कपटपूर्ण आशय से पूर्वतिथि किया गया था ताकि प्रथम आदेश के पश्चात् संचिका मुख्य मंत्री के सचिवालय से दिनांक 16.5.1975 को निकल जाने के बाद उसके अनुसरण में की गई या की जा सकने वाली (भले वास्तव में न

की गई हो) किसी कार्यवाही को शून्य या व्यर्थ कर दिया जाए जो द्वितीय आदेश को पूर्वतिथि करने के कार्य से स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होने वाला सबसे प्राकृतिक परिणाम था। यह आवश्यक नहीं है कि कपटपूर्ण आशय साकार हो; पर्याप्त है यदि पूर्वतिथि करने का कार्य उपर्युक्त संकेतित कपटपूर्ण आशय से किया गया हो (बिना उसके वास्तव में साकार हुए)। यह अंतर-विभागीय आदेशों का मामला होने के कारण उत्तरदाता सं. 2 द्वारा दिनांक 16 मई, 1975 को पारित प्रथम आदेश संबंधित संचिका मुख्य मंत्री के सचिवालय से निकलते ही प्रभावी हो गया था तथा इस प्रकार उत्तरदाता सं. 2 द्वारा उसे संचिका को विधिवत् तथा नियमित रूप से वापस मंगाकर तथा समय की दृष्टि से पश्चात्वर्ती नया आदेश पारित कर पूर्व आदेश को संशोधित या निरस्त किया जा सकता था किन्तु निश्चय ही प्रथम आदेश को पूर्णतः मिटाने के लिए उत्तरवर्ती आदेश को चिपकाने की कच्ची पद्धति से नहीं तथा किसी भी स्थिति में उसे पूर्वतिथि करके नहीं। यह सत्य है कि मात्र किसी दस्तावेज या आदेश को पूर्वतिथि करना जालसाजी का अपराध नहीं गठित करेगा किन्तु यदि दस्तावेज या आदेश को उपर्युक्त संकेतित तिरछे उद्देश्य या कपटपूर्ण आशय से पूर्वतिथि किया जाता है (बिना उसके वास्तव में साकार हुए) तो वह जालसाजी होगी।

उपर्युक्त निर्विवाद दस्तावेजी साक्ष्य जिसमें लेखा परीक्षा प्रतिवेदन, संबंधित संचिका में प्रासंगिक टिप्पणियाँ तथा उत्तरदाता सं. 2 के दो आदेश शामिल हैं स्पष्ट रूप से उत्तरदाता सं. 2 द्वारा दो सामान्य विधि अपराधों अर्थात् भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5(1)(घ) के अंतर्गत आपराधिक कदाचार तथा भारतीय दंड संहिता की धारा 466 के अंतर्गत जालसाजी के कमीशन का *प्रथम दृष्ट्या* मामला सिद्ध करते हैं बिना इसके सिद्ध करने हेतु किसी आगे सामग्री की आवश्यकता के। पूर्ववर्ती के तत्व *प्रथम दृष्ट्या* संतुष्ट कहे जा सकते हैं चूँकि दो आदेश पारित कर उत्तरदाता सं. 2 ने भ्रष्ट या अवैध साधनों द्वारा या अन्यथा मुख्य मंत्री के रूप में अपनी स्थिति का दुरुपयोग कर नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों के विरुद्ध आपराधिक अभियोजन तथा अधिभार कार्यवाहियों को विफल किया तथा इस प्रकार कम से कम उनके

लिए आर्थिक लाभ प्राप्त किया बैंक, उसके सदस्यों, निक्षेपकों तथा लेनदारों की हानि के लिए। यह इस पहलू से अलग है कि ऐसा करते समय उन्होंने स्वयं के लिए आर्थिक लाभ प्राप्त किया या नहीं जिसके लिए अभियोजन पक्ष के साक्षी बनने वालों के स्वीकारोक्ति कथनों के रूप में आगे सामग्री पर विचार या सराहना करने की आवश्यकता होगी किन्तु ऐसी आगे सामग्री की उपेक्षा करते हुए धारा 5(1)(घ) के तत्व उपर्युक्त संकेतित रूप में *प्रथम दृष्टया* संतुष्ट हो जाते हैं। उत्तरवर्ती के संबंध में यद्यपि उत्तरदाता सं. 2 को प्रथम के स्थान पर द्वितीय आदेश पारित करने का प्राधिकार तथा शक्ति थी किन्तु द्वितीय आदेश को कपटपूर्ण आशय से पूर्वतिथि करके जालसाजी के तत्व पुनः *प्रथम दृष्टया* संतुष्ट हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में उपर्युक्त सामग्री उत्तरदाता सं. 2 को विचारण में डालने हेतु स्पष्ट रूप से पर्याप्त है क्योंकि यदि उक्त सामग्री खंडित न रहे तो दोषसिद्धि स्पष्ट रूप से होगी।

उत्तरदाताओं के अधिवक्ताओं द्वारा जोरदार ढंग से अभिवचित किया गया, विशेष रूप से उत्तरदाता सं. 2 के अधिवक्ता द्वारा कि यदि उत्तरदाता सं. 2 द्वारा पारित उपर्युक्त दो आदेशों को उचित रूप से समझा जाए तो यह नहीं कहा जा सकता कि इन दो आदेशों में से किसी का भी प्रभाव नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों के विरुद्ध आपराधिक अभियोजन तथा अधिभार कार्यवाहियों को बाधित करने या विफल करने या विफल करने का था तथा द्वितीय आदेश का प्रभाव प्रथम आदेश में निहित निदेशों को उपर्युक्त मद (ख) तथा (ग) के संबंध में निरस्त करने का निश्चय ही नहीं था किन्तु वस्तुतः प्रभाव पदाधिकारियों के विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियों का सहारा लेने की सुविधा प्रदान करने का था बिना ऋणियों से ऋण की वसूली पहले करने की आवश्यकता की बाधा के जो दिनांक 16-3-1978 के प्रथम आदेश का आशय था। आगे यह अभिवचित किया गया कि नवल किशोर सिन्हा तथा अन्य पदाधिकारियों के विरुद्ध आपराधिक अभियोजन को दबाने के स्थान पर उत्तरदाता सं. 2 ने पश्चात्वर्ती स्तर पर नवल किशोर सिन्हा सहित पदाधिकारियों के अभियोजन का निर्देश दिया था तथा वास्तव में सहकारिता विभाग ने नवल किशोर सिन्हा के विरुद्ध भी अधिभार कार्यवाहियाँ अपनाने हेतु

कदम उठाए थे उन्हें कारण बताओ नोटिस जारी कर तथा इसलिए अन्यों के साथ मिलीभगत से उत्तरदाता सं. 2 के विरुद्ध आपराधिक कदाचार तथा जालसाजी के आरोप स्पष्ट रूप से अक्षुण्ण नहीं थे तथा लोक अभियोजक द्वारा मांगा गया अभियोजन से प्रत्याहरण उचित तथा न्यायोचित था। किन्तु मेरे मत में जैसा कि मैं शीघ्र संकेतित करूँगा अभिलेख पर आगे सामग्री उत्तरदाताओं के अधिवक्ताओं के इन निवेदनों को सिद्ध या समर्थन नहीं करती।

इस प्रश्न के संबंध में कि उपर्युक्त दोनों आदेशों में से किसी का प्रभाव आपराधिक अभियोजन तथा अधिभार कार्यवाहियों को बाधित करने, विफल करने या निष्फल करने का था या नहीं तथा उत्तरदाता संख्या 2 ने वे आदेश पारित करते समय क्या आशय रखा था— यह उसके आगे के आचरण से स्पष्ट हो जाएगा जिसका प्रमाण उसके द्वारा 1977 में सत्ता से बाहर होने तक पारित बाद के टिप्पणियाँ तथा आदेश हैं तथा इस संबंध में यह उपयुक्त होगा कि आपराधिक अभियोजन तथा अधिभार कार्यवाहियों के संबंध में बाद की घटनाओं ने जो क्रम अपनाया उसका पृथक-पृथक निरूपण किया जाए। जहाँ तक आपराधिक अभियोजन का प्रश्न है प्रतीत होता है कि सहकारी विभाग उसे आगे बढ़ाना चाहता था तथा इस संबंध में दिनांक 28-6-1975 की अपनी अगली टिप्पणी द्वारा तत्कालीन सहकारिता मंत्री ने शिकायत दाखिल करने के मामले में आगे की कार्यवाही क्या होनी चाहिए इस पर मुख्य मंत्री से निर्देश माँगे तथा उत्तरदाता संख्या 2 ने मुख्य मंत्री के रूप में दिनांक 30-6-1975 को फाइल पर निम्नलिखित आदेश पारित किया: "चर्चा हो चुकी है। अभियोजन दाखिल करने की कोई आवश्यकता नहीं है।" यह स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि आपराधिक अभियोजन के मामले में उत्तरदाता संख्या 2 ने अपने उपर्युक्त दोनों आदेशों द्वारा क्या आशय रखा था तथा यह निर्देश स्पष्ट रूप से उस सुझाव के विपरीत है कि उसने नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों के विरुद्ध आपराधिक अभियोजन को बाधित, विफल या निष्फल नहीं किया। आगे प्रतीत होता है कि जुलाई 1975 में बिहार विधान सभा में प्रश्न तथा ध्यानाकर्षण प्रस्ताव थे जिनके क्रम में बैंक धोखाधड़ी में संलिप्त अपराधियों के गैर-अभियोजन की समीचीनता पर चर्चा हुई थी कि

स्पीकर ने मामले को सदन की प्राक्कलन समिति को सौंपा था कि जून 1976 में प्राक्कलन समिति ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों के अभियोजन की सिफारिश की गई थी कि जुलाई 1976 में सभा में उक्त प्रतिवेदन में निहित सिफारिशों पर बहस हुई तथा सरकार को अपराधियों के विरुद्ध अभियोजन आरंभ करने के लिए सहमत होना पड़ा। इन घटनाओं के परिणामस्वरूप उत्तरदाता संख्या 2 ने मुख्य मंत्री के रूप में दिनांक 4-8-1976 को आपराधिक अभियोजन आरंभ करने का आदेश पारित किया किन्तु वहाँ भी उन्होंने निर्देश दिया कि बैंक के कुछ पदाधिकारियों तथा ऋणियों के विरुद्ध अभियोजन आरंभ किए जाएँ जिनमें श्री के. पी. गुप्ता मानद सचिव, श्री एम. ए. हैदरी प्रबंधक तथा श्री के. पी. गुप्ता ऋण लिपिक शामिल हैं किन्तु नवल किशोर सिन्हा को अभियुक्तों की सूची में शामिल न किया जाए तथा तदनुसार 23 आपराधिक मामले उपर्युक्त पदाधिकारियों तथा ऋणियों के विरुद्ध दाखिल किए गए। यह आदेश एक और संकेत है कि बैंक के मामलों द्वारा उत्पन्न सभी हलचल के बावजूद उत्तरदाता संख्या 2 ने नवल किशोर सिन्हा को आपराधिक अभियोजन से बचाने तथा संरक्षण देने का प्रयास किया तथा उन्हें अभियुक्तों की सूची से बाहर रखा। जहाँ तक बैंक के अन्य पदाधिकारियों तथा ऋणियों के विरुद्ध दाखिल 23 आपराधिक मामलों का प्रश्न है सहकारी विभाग की संचिका सं. 12/विधिक-31/77 में दिनांक 2-2-1977 का पीत पत्र आदेश उत्तरदाता संख्या 2 द्वारा पारित निम्नानुसार है: "पटना शहरी सहकारी बैंक के कुछ ऋणियों से धन वसूलने के उद्देश्य से उनके विरुद्ध आपराधिक मामले दाखिल किए गए थे। उन ऋणियों के विरुद्ध जिन्होंने ऋण पूर्ण रूप से चुकता कर दिया है उनके मामलों के प्रत्याहरण की कार्यवाही तत्काल की जाए तथा उन ऋणियों के विरुद्ध जो ऋण चुकाने चाहते हैं किन्तु वित्तीय कठिनाइयों के कारण एक साथ भुगतान नहीं कर सकते हैं उनके लिए उचित किश्तें निर्धारित की जाएँ तथा उसके पश्चात् आवश्यक आगे की कार्यवाही की जाए।" प्रतीत होता है कि इस आदेश के अनुसरण में तीन पक्षों (प्लास्टिक फैब्रिकेटर्स, क्लाइमैक्स प्लास्टिक उद्योग तथा के.के. बूलन) से ऋण पूर्ण रूप से चुकता होने

की जाँच के पश्चात् उनके विरुद्ध आपराधिक मामलों के प्रत्याहरण का निर्देश दिया गया। किन्तु नवल किशोर सिन्हा को आपराधिक अभियोजन से प्रदान किया गया संरक्षण उन्हें लाभ पहुँचाता रहा।

इस बीच अप्रैल 1976 में पटना शहरी सहकारी बैंक की बैंकिंग अनुज्ञप्ति भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा रद्द कर दी गई तथा आगे सहकारी समितियों के निबंधक के इशारे पर बैंक को परिसमापित करने का आदेश दिया गया। प्रतीत होता है कि श्री टी. नंद कुमार, आई.ए.एस., बैंक के परिसमापक ने सहकारी समितियों के निबंधक को संचार भेजा जिसमें सुझाव दिया गया कि अन्य पदाधिकारियों के अलावा बैंक के पूर्व अध्यक्ष श्री नवल किशोर सिन्हा को भी गबन, जालसाजी, ठगी आदि अपराधों के लिए अभियोजित किया जाना चाहिए किन्तु मामला पुलिस अधीक्षक (सहकारी निगरानी प्रकोष्ठ) की प्रतिवेदन के लिए लंबित रखा गया; पुलिस अधीक्षक (सहकारी निगरानी प्रकोष्ठ) ने तथ्य तथा साक्ष्य संग्रह करने के पश्चात् अपराध अनुसंधान विभाग के उप सचिव (विधि) से जाँच कराई, राय प्राप्त की कि श्री नवल किशोर सिन्हा के विरुद्ध आपराधिक मामला पूर्ण रूप से सिद्ध है तथा प्रस्ताव दिया कि प्रारूप प्राथमिकी के अनुसार नया आपराधिक मामला दाखिल किया जाए तथा श्री नवल किशोर सिन्हा को भी जाँचाधीन कई मामलों में सह-अभियुक्त बनाया जाए, पुलिस अधीक्षक (सहकारी निगरानी प्रकोष्ठ) ने अपने उक्त प्रस्ताव पर अपराध अनुसंधान विभाग के उप महानिरीक्षक की अनुमति प्राप्त की तथा उसे सहकारिता सचिव को मुख्य मंत्री की अनुमति के लिए प्रस्तुत किया। मुख्य मंत्री के पूर्व आदेश को ध्यान में रखते हुए जो अभियोजन केवल कुछ पदाधिकारियों तथा ऋणियों के विरुद्ध सीमित था पुलिस अधीक्षक की टिप्पणी में स्पष्ट रूप से कहा गया कि प्रारूप प्राथमिकी (एन.के. सिन्हा के विरुद्ध) को अपराध अनुसंधान विभाग के उप महानिरीक्षक तथा पुलिस महानिरीक्षक दोनों द्वारा जाँचा गया है। समस्त सामग्री की सावधानीपूर्वक जाँच करने तथा कुछ बिंदुओं पर स्पष्टीकरण प्राप्त करने के पश्चात् सहकारिता सचिव श्री विनोद कुमार ने दिनांक 15-1-1977 की लंबी टिप्पणी सहकारिता मंत्री को प्रस्तुत

की जिसमें उन्होंने पुलिस अधीक्षक (सहकारी निगरानी प्रकोष्ठ) के श्री नवल किशोर सिन्हा के विरुद्ध प्राथमिकी दाखिल करने के प्रस्ताव को उनकी अनुमति हेतु विशेष रूप से रखा तथा सुझाव दिया कि माननीय मंत्री मुख्य मंत्री की भी अनुमति प्राप्त कर सकते हैं। सहकारिता मंत्री ने बदले में दिनांक 20-1-1977 को फाइल मुख्य मंत्री को उनकी अनुमति के लिए समर्थित की। फाइल मुख्य मंत्री के सचिवालय में दिनांक 30-3-1977 को प्राप्त हुई तथा उत्तरदाता सं. 2 ने मुख्य मंत्री के रूप में दिनांक 9-4-1977 को किसी भी दिशा में अपना मत व्यक्त करने के बजाय फाइल को मात्र "पुलिस महानिरीक्षक" को अंकित कर दिया जो अर्थहीन था क्योंकि पूर्व टिप्पणी में स्पष्ट रूप से कहा गया था कि प्रारूप प्राथमिकी को अपराध अनुसंधान विभाग के उप महानिरीक्षक तथा पुलिस महानिरीक्षक दोनों द्वारा जाँचा गया था। उत्तरदाता सं. 2 के अधिवक्ता ने अभिवचित किया कि मुख्य मंत्री द्वारा किया गया समर्थन इसका अर्थ है कि उन्होंने प्रस्ताव को अनुमोदित किया था। यह अभिवचन स्वीकार करना असंभव है। यदि मुख्य मंत्री ने मात्र हस्ताक्षर या प्रारंभिक अक्षर लगाए होते बिना कुछ कहे तो यह सुझाव संभव होता कि उन्होंने प्रस्ताव को अनुमोदित किया था किन्तु फाइल को "पुलिस महानिरीक्षक" को अंकित करना बिना "जैसा प्रस्तावित है" या समरूप कुछ कहे इसका अर्थ नहीं रख सकता कि उत्तरदाता सं. 2 ने प्रस्ताव को अनुमोदित किया था। वास्तव में पुलिस महानिरीक्षक द्वारा एन.के. सिन्हा के विरुद्ध प्रारूप प्राथमिकी को अनुमोदित तथा जाँचा जाने के ज्ञान के साथ फाइल को मात्र "पुलिस महानिरीक्षक" को अंकित करना मामले को टालने के समान था। इस बीच उत्तरदाता सं. 2 की सरकार सत्ता से बाहर हो गई तथा राष्ट्रपति शासन के अंतर्गत मामला राज्यपाल श्री जगन्नाथ कौशल (वर्तमान केंद्रीय विधि मंत्री) द्वारा निपटाया गया जिन्होंने दिनांक 16-5-1977 को अनुमति प्रदान की जिसके परिणामस्वरूप आपराधिक मामला (प्राथमिकी कांड सं. 97 (5) 77) अंततः कदम कुआँ थाना में दिनांक 30-5-1977 को नवल किशोर सिन्हा के विरुद्ध दाखिल किया गया जिसका उत्तरदाता सं. 2 को कोई श्रेय नहीं मिल सकता। दूसरी ओर पश्चात्वर्ती घटनाएँ दर्शाती हैं कि

जब तक मामला उसके अधिकार क्षेत्र में था उत्तरदाता सं. 2 ने अपनी आधिकारिक स्थिति का दुरुपयोग कर नवल किशोर सिन्हा को आपराधिक अभियोजन से बचाने तथा संरक्षण देने का हर प्रयास किया—एक आपराधिक अभियोजन जो स्वतंत्र निकायों जैसे भारतीय रिजर्व बैंक तथा सहकारी विभाग द्वारा प्रस्तावित था, विधि विभाग द्वारा सहमत था, प्राक्कलन समिति द्वारा सिफारिश किया गया था तथा अंततः राज्यपाल श्री जगन्नाथ कौशल द्वारा अनुमोदित किया गया था।

अधिभार कार्यवाहियों के संबंध में स्थिति बहुत सरल है। जैसा कि पहले चर्चा की गई है, प्रथम आदेश दिनांक 16-5-1975 में निहित दो निदेश—ऋणियों से ऋणों की वसूली हेतु कठोर कार्यवाही करने तथा चूक होने पर निदेशक मंडल के विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियाँ आरंभ करने के—बाद में पूर्वतिथि किए गए आदेश 14-5-1975 द्वारा समाप्त कर दिए गए। इस प्रकार उत्तरदाता सं. 2 ने अधिभार कार्यवाहियों को विफल किया तथा नवल किशोर सिन्हा तथा बैंक के अन्य पदाधिकारियों की दीवानी दायित्व को दरकिनार का प्रयास किया। उत्तरदाता संख्या 2 के इस आचरण की व्याख्या हमारे समक्ष दाखिल श्री विनोद कुमार सिन्हा के दिनांक 8-10-1982 के प्रति-शपथ-पत्र में की गई है। उत्तरदाता संख्या 2 के अधिवक्ता ने अपने तर्कों में इसे प्रयुक्त किया। व्याख्या यह है कि पटना मंडल के उप निबंधक सहकारी समितियों के कार्यालय में रखी अलग संचिका शीर्षक “अधिभार कार्यवाहियाँ” अर्थात् 1975 की संचिका सं. 3 दर्शाती है कि: (क) उप निबंधक ने दिनांक 30-4-1975 के अपने पत्र द्वारा संयुक्त निबंधक को सूचित किया था कि निबंधक के साथ चर्चा हो चुकी है तथा अधिभार कार्यवाहियाँ शीघ्र आरंभ की जाएँगी; (ख) दिनांक 10-6-1975 को जिला सहकारी अधिकारी द्वारा निबंधक के समक्ष बिहार तथा उड़ीसा सहकारी समिति अधिनियम की धारा 40 के अंतर्गत अधिभार का आवश्यक प्रस्ताव तैयार तथा दाखिल किया गया; (ग) दिनांक 1-7-1975 को अधिभार कांड सं. 3/1975 नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों के विरुद्ध सीधे कारण बताओ नोटिस जारी करके आरंभ किया गया। इन तथ्यों के दृष्टिगत उत्तरदाता संख्या 2 पर

अधिभार कार्यवाहियों को निरस्त करने का आरोप नहीं लगाया जा सकता। आगे अभिवचित किया गया कि इसलिए दिनांक 16-5-1975 का आदेश जो अधिभार कार्यवाहियाँ निर्देशित करता था अनावश्यक तथा अप्रासंगिक था क्योंकि उचित प्राधिकारी अर्थात् निबंधक ने पहले ही अधिभार कार्यवाहियाँ आरंभ करने का निर्णय लिया था जो नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों को दिनांक 1-7-1975 को कारण बताओ नोटिस जारी करके आरंभ की गईं। वास्तव में यदि दिनांक 16-5-1975 का हटाया गया आदेश दिनांक 14-5-1975 के आदेश द्वारा प्रतिस्थापित न होता तो अधिभार कार्यवाहियाँ जो दिनांक 10-6-1975 को दाखिल की गईं विलंबित हो जातीं। प्रथम आदेश दिनांक 16-5-1975 को वापस लेने का प्रभाव (जो द्वितीय आदेश द्वारा प्रथम आदेश को वापस लेना स्वीकार है) उप निबंधक के कार्यालय में उस समय प्रक्रियाधीन अधिभार कार्यवाहियों को ऋणियों से पहले वसूली कार्यवाही अपनाने की आवश्यकता के बिना सुगम बनाना था। उत्तरदाता संख्या 2 के अधिवक्ता ने जोरदार ढंग से अभिवचित किया कि अधिभार कार्यवाहियों को विफल करने या रोकने के स्थान पर दिनांक 14-5-1975 का बाद का आदेश एक बाधा को हटाता है। यह व्याख्या कम से कम दो या तीन कारणों से अस्पष्ट है तथा स्वीकार नहीं की जा सकती। प्रथम, स्वीकारोक्ति से तथा उत्तरदाता संख्या 2 के अधिवक्ता द्वारा भी न्यायपूर्वक स्वीकार किया गया कि अधिभार कार्यवाहियों से संबंधित संचिका सं. 3/75 को मुख्य मंत्री (उत्तरदाता संख्या 2) को दिनांक 16-5-1975 से पूर्व भेजा गया था या उसके द्वारा देखा गया था ऐसा कोई सामग्री अभिलेख पर नहीं है; वास्तव में उसे कभी भी नहीं भेजा गया था। इसके परिणामस्वरूप उत्तरदाता संख्या 2 को उसमें निहित टिप्पणियों तथा आदेशों या उप निबंधक सहकारी समितियों के कार्यालय में क्या किया जा रहा था इसकी जानकारी नहीं थी जब उन्होंने दिनांक 16-5-1975 तथा 14-5-1975 के दोनों आदेश पारित किए। इसलिए व्याख्या कि उत्तरदाता संख्या 2 ने उप निबंधक के कार्यालय द्वारा अधिभार कार्यवाहियों के दाखिल होने को ऋणियों से पहले वसूली कार्यवाही अपनाने की आवश्यकता के बिना सुगम बनाया अस्पष्ट है। द्वितीय, अधिभार

कार्यवाहियों का प्रस्ताव स्वयं जिला सहकारी अधिकारी द्वारा नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों के विरुद्ध दिनांक 10-6-1975 को प्रस्तुत तथा दाखिल किया गया था। अधिभार कार्यवाहियाँ वास्तव में दिनांक 1-7-1975 को आरंभ की जा सकीं जब कारण बताओ नोटिस जारी करने तथा नवल किशोर सिन्हा पर 15-7-1975 को सेवा करने का निर्देश दिया गया। जबकि नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों के विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियों को विफल करना पहले ही पूरा हो चुका था जो उत्तरदाता संख्या 2 द्वारा उनके पूर्वतिथि आदेश 14-5-1975 द्वारा संपन्न किया गया था। तृतीय, यह स्पष्ट है कि उत्तरदाता संख्या 2 सहकारी समिति के निबंधक के कार्यालय द्वारा नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों के विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियों में की गई कार्यवाही का श्रेय नहीं ले सकते जो उत्तरदाता संख्या 2 द्वारा अधिभार कार्यवाहियों को विफल करने के कार्य से स्वतंत्र रूप से तथा उसके बावजूद की गई थी।

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि उपर्युक्त उल्लिखित दस्तावेजी साक्ष्य, जिसकी प्रामाणिकता पर संदेह नहीं किया जा सकता, उत्तरदाता सं. 2 के विरुद्ध भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(1)(घ) को धारा 5(2) के साथ पठित आपराधिक कदाचार के अपराध के लिए विचारण में डालने हेतु पर्याप्त *प्रथम दृष्टया* मामला सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार उसके द्वारा किए गए कहे जाने वाले भारतीय दंड संहिता की धारा 466 के अंतर्गत जालसाजी के आनुषंगिक अपराध की स्थिति भी समान है, क्योंकि द्वितीय आदेश को पूर्वतिथि करना उसके द्वारा विवादित नहीं है; तथा अभिलेख पर यह है कि ऐसे पूर्वतिथि करने के संबंध में जब उससे उसके अधिवक्ताओं की उपस्थिति में जाँच के दौरान पूछताछ की गई तो उसने कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया तथा हमारे समक्ष दाखिल किसी भी प्रति-शपथ-पत्र में किसी प्रकार का कोई स्पष्टीकरण नहीं है। किन्तु तर्कों के क्रम में उसके अधिवक्ता ने वह स्पष्टीकरण दिया जो केवल सद्भावी भूल या चूक के रूप में वर्णित किया जा सकता है (दिनांक 14.10.1982 को दाखिल लिखित तर्कों के अनुसार) किन्तु ऐसा स्पष्टीकरण जाँच सहन नहीं करता, स्वीकार किए गए तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि पूर्वतिथि किया

गया आदेश प्रथम आदेश पर चिपकाए जाने के पश्चात् मार्जिन में दिखाई देने वाली प्रेषण तिथि को ऊपर लिखकर 14.5.1975 में परिवर्तित किया जाना आवश्यक था तथा किया गया था तथा यदि ऊपर लिखना आवश्यक हो तो सद्भावी भूल या चूक नहीं हो सकती। परिस्थितियों में पूर्वतिथि करना कपटपूर्ण आशय से था ताकि प्रथम आदेश के अनुसरण में की जा सकने वाली या संभावित कोई कार्यवाही को शून्य या व्यर्थ कर दिया जाए जैसा कि पहले कहा गया है, जो पूर्वतिथि करने के कार्य से प्रवाहित होने वाला सबसे प्राकृतिक परिणाम है तथा जिसे विधि में उसका आशय माना जाना चाहिए। निश्चय ही उसे विचारण में इसे खंडित करने का अवसर मिलेगा किन्तु इस समय अभिलेख पर कोई सामग्री—खंडन के रूप में—नहीं है। परिस्थितियों में साक्ष्य की कमी या सफल अभियोजन की संभावना का अभाव को अभियोजन से प्रत्याहरण के लिए वैध आधार मानना असंभव है। उपर्युक्त निर्विवाद दस्तावेजी साक्ष्य पर कोई दो मत संभव नहीं हैं किसी खंडन सामग्री के अभाव में, जो उत्तरदाता सं. 2 विचारण में न्यायालय के समक्ष रखने का अवसर प्राप्त करेंगे। इससे अधिक तथाकथित अनुचित या अति उत्साही जाँचकर्ता उपर्युक्त साक्ष्य के अस्तित्व में आने के समय मीलों दूर थे।

उत्तरदाता सं. 3 (नवल किशोर सिन्हा) तथा उत्तरदाता सं. 4 (जीवानंद झा) के संबंध में यह नहीं भुलाया जा सकता कि वे उत्तरदाता सं. 2 के साथ आपराधिक षड्यंत्र के आरोप में अभियुक्त हैं जिसके परिणामस्वरूप उन सभी द्वारा कई अपराध किए गए कहे जाते हैं। आगे यह स्पष्ट है कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(1)(घ) को धारा 5(2) के साथ पठित आपराधिक कदाचार के अपराध का प्रधान लाभार्थी उत्तरदाता संख्या 3 रहा है तथा जहाँ तक उत्तरदाता सं. 4 का प्रश्न है अभिलेख पर कोई सामग्री नहीं है जो उसकी संलिप्तता का सुझाव न दे। स्वीकारोक्ति से वह कई वर्षों से उत्तरदाता सं. 2 का निकट रहा है तथा उसके निजी तथा दलगत कार्यों का ध्यान रखता रहा है तथा उसके विरुद्ध प्राथमिकी में आरोप है कि वह 27.12.1973 तथा 1.4.1974 को पटना डाक बंगला शाखा, सेंट्रल बैंक ऑफ

इंडिया में उत्तरदाता सं. 2 के बचत बैंक खाते में क्रमशः 10,000 रुपये तथा 3,000 रुपये की जमा से संबंधित था, जो राशियाँ अभियोजन के अनुसार उत्तरदाता सं. 2 द्वारा प्राप्त कुछ रिश्वत राशियों का प्रतिनिधित्व करती थीं तथा दो जमा की प्रमाणित ठोस दस्तावेजी साक्ष्य सेंट्रल बैंक ऑफ इंडिया की संबंधित शाखा के दो जमा पर्ची हैं। क्या ये दो राशियाँ पटना शहरी सहकारी बैंक के कोष से आईं या नहीं तथा क्या वे वास्तव में रिश्वत राशियाँ थीं या नहीं ये पहलू विचारण में विचार किए जाएँगे। किन्तु जैसा कि पहले इंगित किया गया है धारा 5(1)(घ) के अंतर्गत अपराध अधिभार की दीवानी दायित्व को विफल करके नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों पर आर्थिक लाभ प्रदान करने से भी पूर्ण हो जाता है। यदि उत्तरदाता संख्या 2 को षड्यंत्र के आरोप वाले मामले में विचारण का सामना करना पड़े तो उत्तरदाता संख्या 3 तथा उत्तरदाता संख्या 4 के विरुद्ध कोई प्रत्याहरण अनुमत नहीं किया जा सकता। उत्तरदाता संख्या 2, 3 तथा 4 के संबंध में अभियोजन से प्रत्याहरण के लिए साक्ष्य की कमी को वैध आधार न मानने के निष्कर्ष पर पहुँचते समय मैंने जानबूझकर उन विवादास्पद साक्ष्यों को विचार से बाहर रखा है जैसे अभियोजन पक्ष के साक्षी बनने वालों के स्वीकारोक्ति कथन आदि (जिनकी विश्वसनीयता तथा प्रभाव विचारण न्यायालय द्वारा निर्धारित किया जाएगा) जो कथित अति उत्साही जाँच अधिकारियों द्वारा 1977 में उत्तरदाता सं. 2 के सत्ता से बाहर होने के पश्चात् संग्रहित किए गए थे।

फिर एक अन्य विधिक दुर्बलता लोक अभियोजक के कार्यपालकीय कार्य तथा विचारण न्यायालय के पर्यवेक्षी न्यायिक कार्य से संलग्न है जो अंतिम आदेश को दूषित करेगी। उनके विरुद्ध दाखिल आरोप-पत्र के अनुसार उत्तरदाता संख्या 2, 3 तथा 4 भारतीय दंड संहिता की धाराओं 420/466/417/109/120-बी तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धाराओं 5(1)(क), (ख) तथा 5(1)(घ) को धारा 5(2) के साथ पठित अपराधों के लिए उत्तरदायी कहे गए हैं तथा उत्तरदाता संख्या 2 के विरुद्ध आरोप का मुख्य भाग यह है कि वे बिहार के मंत्री या मुख्य मंत्री के रूप में भ्रष्ट या अवैध साधनों द्वारा या अन्यथा लोक सेवक के रूप में

अपनी स्थिति का दुरुपयोग कर अन्य अभियुक्तों के साथ मिलीभगत से तथा विशेष रूप से नवल किशोर सिन्हा की रक्षा करने के उद्देश्य से नवल किशोर सिन्हा तथा अन्यों के विरुद्ध आपराधिक अभियोजन तथा अधिभार कार्यवाहियों को विफल करने का प्रयास किया तथा पटना सहकारी बैंक, उसके सदस्यों, निक्षेपकों तथा लेनदारों की हानि के लिए स्वयं के लिए या उनके लिए आर्थिक लाभ प्राप्त किया या प्रदान किया; दूसरे शब्दों में उत्तरदाता संख्या 2 के विरुद्ध प्रधान आरोप भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(1)(घ) को धारा 5(2) के साथ पठित आपराधिक कदाचार के अपराध के संबंध में था तथा धारा 5(1)(ग) के अंतर्गत अपराध कहीं उल्लिखित या संदर्भित नहीं था। धारा 5(1)(घ) (रिश्वतखोरी जो आपराधिक कदाचार बनती है) तथा धारा 5(1)(ग) (विश्वासघात जो आपराधिक कदाचार बनता है) के बीच अंतर पर्याप्त है, प्रत्येक के भिन्न तत्व हैं किन्तु श्री ललन प्रसाद सिन्हा द्वारा दिनांक 17 जून, 1981 को दाखिल प्रत्याहरण हेतु आवेदन में उन्होंने कहा कि निगरानी कांड सं. 9 (2) 78 में अभियोजन से प्रत्याहरण कई अपराधों के संबंध में मांगा गया है जिसमें भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5(1)(ग) को धारा 5(2) के साथ पठित आपराधिक कदाचार का अपराध शामिल है तथा आवेदन में पूरे में धारा 5(1)(घ) को धारा 5(2) के साथ पठित आपराधिक कदाचार के अपराध का कोई संदर्भ नहीं था। दूसरे शब्दों में धारा 5(1)(ग) को धारा 5(2) के साथ पठित अपराध जिसके लिए उत्तरदाता संख्या 2 पर कभी आरोप नहीं लगाया गया था उल्लिखित किया गया तथा धारा 5(1)(घ) को धारा 5(2) के साथ पठित अपराध जिसके लिए वह मुख्य रूप से आरोपित था पूर्णतः छोड़ दिया गया। स्पष्ट है कि आवेदन में निहित निवेदन तथा न्यायालय के समक्ष सुनवाई में किए गए निवेदन धारा 5(1)(ग) के अपराध के संबंध में थे न कि धारा 5(1)(घ) के। इसी प्रकार विद्वान विशेष न्यायाधीश ने आवश्यक अनुमति प्रदान करते समय अपने आदेश में भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5(1)(ग) के अपराध का उल्लेख किया है न कि धारा 5(1)(घ) का तथा स्पष्ट है कि प्रदत्त अनुमति को ऐसे अपराध के संबंध में दी गई मानी जाएगी जिसके

लिए उत्तरदाता संख्या 2 पर आरोप नहीं लगाया गया था तथा जिसके लिए वह मुख्य रूप से आरोपित था अर्थात् धारा 5(1)(घ) के अंतर्गत अपराध को पूर्णतः उपेक्षित कर। यह स्थिति लोक अभियोजक तथा विद्वान विशेष न्यायाधीश दोनों की ओर से प्रत्याहरण के मुद्दे से निपटने में स्पष्ट तथा प्रतयक्ष मनन न करने को उजागर करती है; उच्च न्यायालय में भी स्थिति में कोई सुधार नहीं है। यह आक्षेपित अभियोजन से प्रत्याहरण को निरस्त करने का कारण बनता है।

उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट है कि आक्षेपित प्रत्याहरण गुण-दोष पर न तो उचित था तथा न ही विधि में उचित तथा अवैध होने के कारण निरस्त किया जाना चाहिए। मैं इसलिए अपील स्वीकार करता हूँ, प्रत्याहरण आदेश निरस्त करता हूँ तथा निर्देश देता हूँ कि निगरानी थाना कांड सं. 9 (2) 78 को विधि के अनुसार आगे बढ़ाया जाए तथा निपटारा किया जाए।

बहारुल इस्लाम, न्यायमूर्ति यह श्री शिवनंदन पासवान की विशेष अनुमति द्वारा अपील है, जो दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (जिसे आगे 'संहिता' कहा गया है) की धारा 321 के अंतर्गत मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी-सह-विशेष न्यायाधीश, पटना के समक्ष लंबित आवेदन में हस्तक्षेपकर्ता थे। सामग्री पृष्ठभूमि तथ्य निम्नानुसार वर्णित किए जा सकते हैं:

2. अपीलकर्ता बिहार विधान सभा के सदस्य हैं तथा लोक दल पार्टी से संबंधित हैं। उत्तरदाता संख्या 2, डॉ. जगन्नाथ मिश्र, वर्तमान में बिहार के मुख्य मंत्री हैं; तथा उत्तरदाता संख्या 4, श्री जीवानंद झा, प्रासंगिक समय में उत्तरदाता संख्या 2 के निकट सहयोगी थे। उत्तरदाता संख्या 3, श्री नवल किशोर सिन्हा, जिन्होंने पटना शहरी सहकारी बैंक (इसके आगे 'बैंक' कहा जाएगा) की स्थापना की तथा उसके अध्यक्ष बने, बिहार विधान परिषद में उत्तरदाता संख्या 2 के सहकर्मी थे। 1972 में उत्तरदाता संख्या 2 सहकारिता तथा कृषि मंत्री बने। 18 जून, 1974 को पटना के उप-मंडलीय सहकारी लेखा परीक्षा अधिकारी ने वर्ष 1972-73 के लिए बैंक की लेखा परीक्षा प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें बैंक के मामलों में अनेक

अनियमितताओं का आरोप लगाया गया। प्रतिवेदन सहकारिता विभाग को प्रस्तुत किया गया जिसके बाद सहकारी लेखा परीक्षा विभाग के संयुक्त निबंधक ने बैंक के निदेशकों के विरुद्ध विधिक कार्यवाही की सिफारिश की। विभाग के विधिक सहायक ने लोक अभियोजक द्वारा तैयार प्रारूप अभियोजन प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें सुझाव दिया गया कि सहकारी विभाग के निबंधक को प्रारूप अभियोजन प्रतिवेदन पर विधि विभाग की राय प्राप्त करनी चाहिए। निबंधक ने प्रारूप अभियोजन प्रतिवेदन विधि विभाग को भेजने से सहमति व्यक्त की किन्तु इच्छा व्यक्त की कि सहकारिता विभाग के प्रभारी मंत्री प्रतिवेदन देखें। तदनुसार फाइल सहकारिता विभाग के प्रभारी मंत्री को समर्थित की गई। तत्कालीन मुख्य मंत्री, श्री अब्दुल गफूर, ने निबंधक के साथ सहमति व्यक्त करते हुए विधि विभाग की सलाह प्राप्त करने के लिए हस्ताक्षर किए तथा प्रथम सूचना प्रतिवेदन (एफ.आई.आर.) को अनुमोदित किया। सहकारिता विभाग के सचिव ने तब लोक अभियोजक से प्रारूप एफ.आई.आर. में संशोधन करने का अनुरोध किया जो विधि विभाग को राय के लिए भेजा गया। विधि विभाग ने फाइल सहकारिता विभाग को वापस कर दी जिसमें कहा गया कि उसने पहले ही अपनी राय दे दी है तथा शिकायत दाखिल करना उसका कर्तव्य नहीं है। फाइल तब आवश्यक कार्यवाही के लिए अतिरिक्त लोक अभियोजक को समर्थित की गई। उत्तरदाता संख्या 2 जो सिंचाई तथा कृषि मंत्री थे, शिकायत वास्तव में दाखिल होने से पूर्व फाइल तथा लेखा परीक्षा प्रतिवेदन देखना चाहते थे। सहकारिता मंत्री ने अपनी टिप्पणी के साथ फाइल मुख्य मंत्री, श्री गफूर, को समर्थित की कि फाइल सिंचाई मंत्री को भेजी जाए। सहकारिता सचिव ने अतिरिक्त लोक अभियोजक से फाइल जारी करने का अनुरोध किया जिसमें समर्थन था, 'शिकायत दाखिल करने की प्रतीक्षा आगे के निर्देशों पर की जाए'। अतिरिक्त लोक अभियोजक ने विशेष दूत के माध्यम से फाइल सहकारिता सचिव को वापस भेजी जिसमें अनुरोध किया गया कि मुख्य मंत्री (श्री गफूर) द्वारा अवलोकन के पश्चात् फाइल वापस की जाए। सहकारिता विभाग के सचिव ने फाइल सहकारिता मंत्री को अपनी टिप्पणियों के साथ भेजी, जिसमें अन्य बातों के

साथ कहा गया 'कंडिका 4:- विधि विभाग ने अपनी राय दी है, पृष्ठ 13/एन पर कि बैंक के सचिव तथा अन्य निदेशकों के विरुद्ध आपराधिक मामला सिद्ध है।'

"कंडिका 5: मुख्य मंत्री तथा मंत्री (विधि) ने शिकायतें वास्तव में दाखिल होने से पूर्व फाइल देखने की इच्छा व्यक्त की है"। परिणामस्वरूप फाइल अतिरिक्त लोक अभियोजक से वापस मंगाई गई।

उपर्युक्त संचिका का आवागमन जनवरी 1975 से 24 फरवरी 1975 तक था।

3. 11 अप्रैल, 1975 को बिहार के मंत्रिमंडल में परिवर्तन हुआ। मुख्य मंत्री अब्दुल गफूर की जगह उत्तरदाता संख्या 2 मुख्य मंत्री बने तथा डॉ. जवाहर हुसैन सहकारिता मंत्री बने। 16 मई, 1975 को उपर्युक्त फाइल मुख्य मंत्री के समक्ष प्रस्तुत की गई, जिन्होंने ऋणों की वसूली हेतु कठोर कदम उठाने, ऐसा न होने पर अधिभार कार्यवाहियाँ आरंभ करने तथा वार्षिक साधारण सभा बुलाकर चुनाव कराने के पश्चात् बैंक में सामान्य स्थिति बहाल करने का आदेश पारित किया।

बाद में उक्त आदेश को एक कागज के टुकड़े पर नया आदेश चिपकाकर ढक दिया गया, जिसका हम आगे उल्लेख करेंगे। पत्राचार की बफ शीट पर दर्शाया गया कि 28 जून, 1975 को सहकारिता मंत्री ने मुख्य मंत्री को लिखा कि पूर्व मुख्य मंत्री (श्री गफूर) ने शिकायत दाखिल करने को स्थगित कर दिया था तथा फाइल देखना चाहते थे; तथा चूंकि पूर्व मुख्य मंत्री ने उक्त आदेश पारित किए थे, अब नए मुख्य मंत्री को मामले में आगे की कार्यवाही निर्देशित करनी चाहिए। उत्तरदाता संख्या 2 ने फाइल पर लिखा कि विचार-विमर्श हो चुका है तथा कोई मामला दाखिल करने की आवश्यकता नहीं है। 4 अगस्त, 1976 को मुख्य मंत्री ने अभियोजन दाखिल करने का आदेश दिया। 4 अगस्त, 1976 को मुख्य मंत्री ने मानद सचिव श्री के.पी. गुप्ता, प्रबंधक श्री एम.ए. हैदरी (इसके आगे 'हैदरी') तथा ऋण लिपिक के अभियोजन का आदेश दिया।

4. मार्च 1977 में लोक सभा के लिए मध्यावधि चुनाव हुए। उस चुनाव में केंद्र में कांग्रेस (आई) सरकार सत्ता से बाहर हो गई तथा जनता सरकार स्थापित हुई जिसमें श्री मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री तथा चौधरी चरण सिंह गृह मंत्री बने। अप्रैल के बाद पटना सचिवालय गैर-राजपत्रित कर्मचारी संघ ने उत्तरदाता संख्या 2 के विरुद्ध प्रधानमंत्री को शिकायत की, गैर-राजपत्रित कर्मचारी संघ ने उत्तरदाता संख्या 2 के विरुद्ध 25 बिंदुओं वाली अभ्यावेदन प्रधानमंत्री को प्रस्तुत की जिसमें बैंक की अनियमितताओं की जानकारी दी गई। उसके बाद उत्तरदाता संख्या 2 के नेतृत्व वाली बिहार की कांग्रेस (आई) सरकार श्री कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व वाली जनता सरकार द्वारा प्रतिस्थापित हो गई। श्री कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व वाले कर्मचारी संघ ने 9 जुलाई, 1977 को उक्त अभ्यावेदन की प्रति नए मुख्य मंत्री श्री कर्पूरी ठाकुर को प्रस्तुत की तथा अनुरोध किया कि आरोपों की जाँच हेतु जाँच आयोग गठित किया जाए। राज्य सरकार के पुलिस महानिरीक्षक ने प्रारंभिक जाँच हेतु मामले को निगरानी महानिरीक्षक को सौंपा। अंततः प्रारंभिक जाँच तब के संयुक्त सचिव श्री डी.एन. सहाय को सौंपी गई।

5. केंद्रीय गृह मंत्री चौधरी चरण सिंह ने बिहार के मुख्य मंत्री श्री कर्पूरी ठाकुर को डी.ओ. पत्र लिखा कि 1964 के आचार संहिता के अनुसार प्रधानमंत्री को मुख्य मंत्री या पूर्व मुख्य मंत्री के विरुद्ध शिकायत की जाँच करनी होती है तथा पहले मुख्य मंत्री की टिप्पणियाँ प्राप्त करनी होती हैं तथा उसके बाद कार्यवाही का निर्णय करना होता है। 25.7.1977 को संयुक्त सचिव श्री डी.एन. सहाय ने अपनी प्रारंभिक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया तथा सिफारिश की कि भारत सरकार के गृह मंत्रालय को प्रस्तावित कार्यवाही की सूचना दी जाए तथा सुझाव दिया कि विस्तृत जाँच का आदेश देने से पूर्व केंद्रीय गृह मंत्री की सहमति आवश्यक है। मुख्य मंत्री ने किन्तु 23.8.1977 को मुख्य सचिव के साथ शाम 20.08 बजे चर्चा की तथा केंद्रीय गृह मंत्री की सहमति या सूचना के बिना पूर्ण जाँच का आदेश दिया।

1.9.1977 को संयुक्त सचिव श्री डी.एन. सहाय ने विशेष सचिव को पत्र लिखा कि बैंक से संबंधित आरोप संख्या 8 के संबंध में चूंकि जाँच आयोग पहले ही गठित हो चुका है, इसलिए निगरानी जाँच की समीचीनता पर उन्होंने संदेह व्यक्त किया। मुख्य मंत्री श्री कर्पूरी ठाकुर ने मत व्यक्त किया कि निगरानी विभाग द्वारा संग्रहित सामग्री का उपयोग आयोग द्वारा किया जाएगा। 20.9.1977 को संयुक्त सचिव श्री डी.एन. सहाय ने पुनः मुख्य मंत्रियों के आचार संहिता नियम 1964 का उल्लेख किया तथा सुझाव दिया कि मंत्रियों के लिए आवश्यक नोट्स कैंद्रीय गृह मंत्री को आवश्यक आदेशों के लिए भेजे जाएँ। फिर 17.10.1977 को मुख्य मंत्री श्री कर्पूरी ठाकुर ने गृह मंत्री चौधरी चरण सिंह को बैंक के आरोपों के संबंध में डी.ओ. पत्र लिखा तथा पुनः सुझाव दिया कि यद्यपि जाँच आयोग नियुक्त हो चुका है, निगरानी जाँच जारी रह सकती है क्योंकि निगरानी द्वारा संग्रहित सामग्री का उपयोग आयोग द्वारा किया जा सकता है।

अक्टूबर 1977 में श्री एस.बी. सहाय को मुख्य मंत्री श्री कर्पूरी ठाकुर द्वारा निगरानी उप महानिरीक्षक के रूप में पदोन्नत किया गया। 7.11.1977 को श्री एस.बी. सहाय ने कैंद्रीय गृह मंत्रालय की सहमति प्राप्त किए बिना तथा आगे के आदेशों की प्रतीक्षा किए बिना सभी बिंदुओं पर जाँच का आदेश दिया।

नवंबर 1977 में श्री डी.पी. ओझा को मुख्य मंत्री श्री ठाकुर द्वारा निगरानी पुलिस अधीक्षक के रूप में पदोन्नत किया गया तथा जाँच श्री ओझा को समर्थित की गई।

उत्तरदाताओं द्वारा यह आरोप लगाया गया है कि जनवरी 1978 में रघुबीर सिंह, शारदा प्रसाद सिंह, राम दाहिन शर्मा आदि जैसे अपराध अनुसंधान विभाग के कुछ निरीक्षकों को निगरानी विभाग में स्थानांतरित कर दिया गया तथा वे प्रश्नगत मामले के प्रमुख भागों की जाँच के लिए उत्तरदायी थे, तथा अपराध अनुसंधान विभाग, बिहार के निगरानी उप अधीक्षकों द्वारा जाँच किए गए तथा निरीक्षक श्री रघुबीर सिंह के प्रभार में रखे गए बैंक से संबंधित सभी आपराधिक मामले निगरानी विभाग को स्थानांतरित कर दिए गए तथा निरीक्षक श्री

रघुबीर सिंह के प्रभार में रखे गए। उपर्युक्त हैदरी, जो कदम कुआँ थाना कांड में अभियुक्त थे तथा जिन्होंने स्वीकारोक्ति कथन दिया था, पुनः गिरफ्तार किए गए तथा जाँच अधिकारी श्री रघुबीर सिंह ने दूसरी स्वीकारोक्ति दी जिसमें उत्तरदाता संख्या 2 को पहली बार संलिप्त किया गया। 26.1.1978 को ए.के. सिन्हा को भी पहली बार पुनः गिरफ्तार किया गया। 28.1.1978 को उपर्युक्त डी.पी. ओझा ने अपनी जाँच प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें उत्तरदाता संख्या 2 तथा अन्यों के विरुद्ध आपराधिक मामले दाखिल करने की सिफारिश की गई। इसी प्रकार की सिफारिशें उपर्युक्त श्री एस.बी. सहाय तथा निगरानी पुलिस महानिरीक्षक द्वारा भी की गईं। फाइल तब कर्पूरी ठाकुर सरकार द्वारा नियुक्त महाधिवक्ता श्री के.डी. चटर्जी को भेजी गई। 31.1.1978 को मुख्य मंत्री श्री ठाकुर ने इसे अनुमोदित किया तथा निर्देश दिया कि फाइल श्री एस.बी. सहाय को सौंपी जाए, जिन्होंने बदले में इसे जाँच तथा मामले की संस्थापना के लिए श्री डी.पी. ओझा को समर्थित किया। 1.2.1978 को श्री ओझा ने अतिरिक्त पुलिस अधीक्षक श्री आर.पी. सिंह को मामला दाखिल करने का निर्देश दिया। राज्यपाल की स्वीकृति प्राप्त करने के पश्चात् निगरानी पुलिस द्वारा 1.2.1978 को आपराधिक मामला दाखिल किया गया तथा 19.2.1979 को उत्तरदाताओं तथा अन्यों के विरुद्ध आरोप-पत्र प्रस्तुत किया गया।

7. 26.2.1979 को पटना उच्च न्यायालय के वरिष्ठ अधिवक्ता श्री अवधेश कुमार दत्ता (इसके आगे 'ए.के. दत्ता') को कर्पूरी ठाकुर सरकार द्वारा उत्तरदाता संख्या 2 के विरुद्ध दो निगरानी मामलों के संचालन हेतु विशेष लोक अभियोजक नियुक्त किया गया।

8. 21.11.1979 को पटना के मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी-सह-विशेष न्यायाधीश ने मामले का संज्ञान लिया।

9. इसके तुरंत बाद बिहार में सरकार परिवर्तन हुआ तथा उत्तरदाता संख्या 2 पुनः मुख्य मंत्री बने। 10.6.1980 को राज्य सरकार ने नीतिगत निर्णय लिया कि 1978-79 में "राजनीतिक विद्वेष" से दाखिल आपराधिक मामले तथा राजनीतिक आंदोलन से संबंधित मामले प्रत्याहृत किए जाएँ।

10. 24.2.1981 को सरकार ने एक श्री लल्लन प्रसाद सिन्हा (इसके आगे 'एल.पी. सिन्हा') को तीन अन्यों के साथ विशेष लोक अभियोजक नियुक्त किया पत्र सं. सी./मिस-843 जे दिनांक 24.2.1981 द्वारा।

अगले दिन (25.2.1981) बिहार सरकार के सचिव ने जिला दंडाधिकारी को पत्र लिखा जिसमें वर्तमान मामले सहित दो निगरानी मामलों से अभियोजन से प्रत्याहरण करने के सरकार के नीतिगत निर्णय की सूचना दी गई, अर्थात् निगरानी थाना कांड सं. 9(2)/78। पत्र कागज पुस्तक के खंड I के पृष्ठ 85 पर है तथा निम्नानुसार पढ़ा जाता है:

"पत्र सं. एमडब्ल्यू 26/81, जे,

बिहार सरकार,

विधि (न्याय) विभाग

प्रेषक:

श्री अंबिका प्रसाद सिन्हा,

सरकार के सचिव, पटना।

सेवा में

जिला दंडाधिकारी,

पटना।

पटना, दिनांक 25 फरवरी, 1981।

विषय : निगरानी थाना कांड सं. 9(2)/78 तथा कांड सं. 53(8)/78 से अभियोजन से प्रत्याहरण

महाशय,

मुझे निर्देश दिया गया है कि राज्य सरकार ने उपर्युक्त दो आपराधिक मामलों से *राज्य तथा लोक नीति के कारणों से अभियोजन की अनुपयुक्तता के आधार* पर प्रत्याहरण करने का निर्णय लिया है।

श्रीमान से अनुरोध है कि लोक अभियोजक को निर्देश दें कि वे स्वयं विचार करने के पश्चात् दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अंतर्गत उपर्युक्त कारणों से उपर्युक्त दो मामलों के प्रत्याहरण हेतु न्यायालय से प्रार्थना करें।

कृपया पत्र की प्राप्ति की पावती दें तथा कृत कार्यवाही का परिणाम इस विभाग को सूचित करें।

विश्वासभाजन,

हस्ता./अस्पष्ट"

सरकार के सचिव,

पटना।

ज्ञापांक एमडब्ल्यू 26/81, 1056 जे।

पटना, दिनांक 25 फरवरी, 1981।

निगरानी विभाग को सूचनार्थ प्रति अग्रेषित।

हस्ता./अस्पष्ट

सरकार के सचिव, बिहार।

पटना"|(जोर दिया गया)

11. तदनुसार, 17.6.1981 को श्री एल.पी. सिन्हा ने संहिता की धारा 321 के अंतर्गत आवेदन दाखिल किया।

20.6.1981 को विशेष न्यायाधीश ने आक्षेपित आदेश पारित किया जिसमें मामले से प्रत्याहरण हेतु अपनी सहमति दी।

12. इस स्तर पर यह ध्यान देने योग्य है कि आक्षेपित आदेश पारित होने से पूर्व अपीलकर्ता ने संहिता की धारा 302 के अंतर्गत आवेदन दाखिल किया था, तथा विद्वान न्यायाधीश ने अभिनिर्धारित किया कि अपीलकर्ता का मामले में कोई *कानूनी अधिकार* नहीं

है। अपीलकर्ता ने तब उच्च न्यायालय में आपराधिक पुनरीक्षण दाखिल किया। उच्च न्यायालय ने अपीलकर्ता को सुनने के पश्चात् दिनांक 14.9.1981 के अपने आदेश द्वारा पुनरीक्षण याचिका खारिज कर दी तथा विशेष न्यायाधीश द्वारा पारित प्रत्याहरण आदेश की पुष्टि की।

13. इसलिए विशेष अनुमति द्वारा यह अपील उच्च न्यायालय के आपराधिक पुनरीक्षण आदेश के विरुद्ध है।

14. अपीलकर्ता की ओर से उपस्थित विद्वान अधिवक्ता श्री वेणुगोपाल ने हमारे समक्ष तीन बिंदु प्रतिपादित किए:

(1) कि विशेष न्यायाधीश द्वारा प्रश्नगत मामले से प्रत्याहरण हेतु दी गई अनुमति इस न्यायालय के निर्णयों की शृंखला के विपरीत है तथा अक्षुण्ण नहीं है।

(2) कि श्री एल.पी. सिन्हा, जिन्होंने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अंतर्गत आवेदन किया था, मामले के प्रभारी लोक अभियोजक नहीं थे।

(3) कि मामले के तथ्यों तथा परिस्थितियों में श्री एल.पी. सिन्हा स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर सके तथा न ही किया।

श्री परासरन, विद्वान महान्यायाभिकर्ता, उत्तरदाता संख्या 1, बिहार राज्य की ओर से उपस्थित होकर, दूसरी ओर अभिवचित किया,

(1) कि मामले की संस्थापना राजनीतिक विद्वेष का परिणाम थी तथा विद्वेष ने मामले की जाँच को दूषित कर दिया था;

(2) कि श्री एल.पी. सिन्हा मामले के प्रभारी लोक अभियोजक थे तथा संहिता की धारा 321 के अंतर्गत आवेदन करने के सक्षम थे तथा उनकी नियुक्ति परोक्ष रूप से चुनौती नहीं दी जा सकती; तथा

(3) कि विशेष न्यायाधीश का आक्षेपित आदेश विधिक रूप से वैध था।

15. निर्णय के लिए प्रथम बिंदु यह है कि क्या श्री एल.पी. सिन्हा संहिता की धारा 321 के अनुसार मामले के प्रभारी लोक अभियोजक थे। संहिता की धारा 321 (केवल महत्वपूर्ण अंश) इस प्रकार है:

> "321. अभियोजन से प्रत्याहरण—मामले के प्रभारी लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक न्यायालय की सहमति से निर्णय उच्चारित होने से पूर्व किसी भी समय किसी व्यक्ति के अभियोजन से सामान्य रूप से या उसके द्वारा विचारित एक या एक से अधिक अपराधों के संबंध में प्रत्याहरण कर सकता है; तथा ऐसे प्रत्याहरण पर—
>
> (क) यदि यह आरोप गठित होने से पूर्व किया गया है, तो अभियुक्त ऐसे अपराध या अपराधों के संबंध में उन्मोचित किया जाएगा;
>
> (ख) यदि यह आरोप गठित होने के पश्चात् किया गया है, या जब इस संहिता के अंतर्गत कोई आरोप आवश्यक नहीं है, तो अभियुक्त ऐसे अपराध या अपराधों के संबंध में निर्दोष ठहराया जाएगा:
>
> परंतु यह कि............"

धारा 321 की तीन आवश्यक शर्तें हैं:

(1) कि लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक ही किसी व्यक्ति के अभियोजन से प्रत्याहरण करने के सक्षम व्यक्ति हैं;

(2) कि वह मामले के प्रभारी होना चाहिए;

(3) कि प्रत्याहरण केवल न्यायालय की सहमति से अनुमेय है (जिसके समक्ष मामला लंबित है)।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, श्री ए.के. दत्ता को प्रश्नगत मामले के संचालन हेतु विशेष लोक अभियोजक नियुक्त किया गया था पत्र सं. सी/विशेष/04/79 के अंतर्गत आदेश द्वारा, जो इस प्रकार है (केवल महत्वपूर्ण अंश):

"पत्र सं. सी/विशेष/04/79

बिहार सरकार

विधि (न्याय) विभाग

प्रेषक:

श्री योगेश्वर गोपे,

बिहार सरकार के अवर सचिव।

सेवा में,

श्री आर.एन. सिन्हा,

जिला दंडाधिकारी, पटना।

पटना, दिनांक फरवरी 1979।

विषय: निगरानी थाना कांड सं. 9(2)/78 तथा 53(8)/78 में अभियोजन संचालन हेतु नियुक्ति राज्य बनाम डॉ. जगन्नाथ मिश्र, पूर्व मुख्य मंत्री तथा अन्य।

महोदय,

मुझे निर्देश दिया गया है कि राज्य सरकार ने श्री अवधेश कुमार दत्ता, वरिष्ठ अधिवक्ता, पटना उच्च न्यायालय को विशेष लोक अभियोजक नियुक्त करने का प्रसन्नतापूर्वक निर्णय लिया है जिसमें डॉ. जगन्नाथ मिश्र, पूर्व मुख्य मंत्री, मुख्य अभियुक्त हैं।

2. श्री दत्ता की सहायता हेतु जूनियर अधिवक्ताओं की नियुक्ति का आदेश बाद में जारी किया जाएगा।

आपका विश्वासी,

हस्ता./योगेश्वर गोप

ज्ञापांक 1313, जे, पटना दिनांक 26 फरवरी 1979।

प्रतिलिपि श्री अवधेश कुमार दत्ता, वरीय अधिवक्ता, पटना उच्च न्यायालय/कैबिनेट (निगरानी) विभाग, बिहार सरकार, पटना को सूचना तथा आवश्यक कार्यवाही हेतु अग्रेषित।

हस्ता./योगेश्वर गोप

बिहार सरकार के अवर सचिव"|

बाद में, उक्त पत्र सं. सी/विशेष/04/79 दिनांक 26 फरवरी, 1979 के कंडिका 2 के अनुसरण में, पत्र सं. सी/मिस-843/78 जे दिनांक 24 फरवरी, 1981 द्वारा सरकार ने निगरानी मामलों के संचालन हेतु अधिवक्ताओं का पैनल गठित किया। यह पत्र इस प्रकार है (केवल महत्वपूर्ण अंश):

“पत्र सं. सी/मिस-843/78 जे

बिहार सरकार,

विधि (न्याय) विभाग।

प्रेषक

श्री अंबिका प्रसाद सिन्हा,

बिहार सरकार के सचिव

सेवा में

जिला दंडाधिकारी, पटना

पटना, दिनांक 24 फरवरी, 1981।

विषय: निगरानी विभाग से संबंधित मामलों के संचालन हेतु अधिवक्ताओं का पैनल गठन।

महाशय,

मुझे निर्देश दिया गया है कि निगरानी विभाग से संबंधित मामलों के संचालन हेतु राज्य सरकार ने विधि (न्याय) विभाग के पत्र सं. 5240 जे दिनांक 19.8.1978 द्वारा गठित अधिवक्ताओं के पैनल को निरस्त करते हुए पूर्व पैनल के स्थान पर निम्नलिखित चार अधिवक्ताओं का पैनल गठित करने का प्रसन्नतापूर्वक निर्णय लिया है।

(1) श्री रामजतन सिंह, अधिवक्ता, सलीमपुर अहरा, पटना-3।

(2) श्री बिंदेश्वरी प्रसाद सिंह, अधिवक्ता, लालजी टोला, पटना-1।

(3) श्री कमला कांत प्रसाद, अधिवक्ता, रोड नं. 2 डी, राजेंद्रनगर, पटना।

(4) श्री लल्लन प्रसाद सिन्हा, अधिवक्ता, शारदा सदन, सैदपुर, नाला रोड, पटना-4।

2. ....

3. यह आदेश तत्काल प्रभाव से लागू होगा।

4. ....

आपका विश्वासी,

हस्ता./अस्पष्ट

सरकार के सचिव।

ज्ञापांक 1043 जे, पटना दिनांक 24 फरवरी, 1981।

प्रतिलिपि श्री राम जतन सिंह, अधिवक्ता, सलीमपुर अहरा, पटना-3, श्री बिंदेश्वरी प्रसाद सिंह, अधिवक्ता, लालजी टोला, पटना-1,

श्री कमला कांत प्रसाद, अधिवक्ता, रोड नं. 2 डी, राजेंद्रनगर, पटना-16, श्री लल्लन प्रसाद सिन्हा, अधिवक्ता, शारदा सदन, सैदपुर, नाला रोड, पटना को सूचना तथा आवश्यक कार्यवाही हेतु अग्रेषित।

2. कैबिनेट (निगरानी) विभाग से अनुरोध है कि पुराने पैनल के अधिवक्ताओं को इस आदेश की सूचना दें।

हस्ता./अस्पष्ट

बिहार सरकार के सचिव।"

यह स्पष्ट है कि अंतिम उद्धृत पत्र से श्री एल.पी. सिन्हा को लोक अभियोजक नियुक्त किया गया।

16. राज्य सरकार संहिता की धारा 24 की उपधारा (8) के अंतर्गत किसी मामले या मामलों के वर्ग के प्रयोजन से विशेष लोक अभियोजक नियुक्त कर सकती है। लोक अभियोजक की परिभाषा संहिता की धारा 2 की कंडिका (यू) के अंतर्गत इस प्रकार है:

"2(यू) 'लोक अभियोजक' का अर्थ है धारा 24 के अंतर्गत नियुक्त कोई व्यक्ति, तथा इसमें लोक अभियोजक के निर्देशों के अधीन कार्य करने वाला कोई व्यक्ति शामिल है।"

पंजाब राज्य बनाम सुरजीत सिंह एवं अन्य[6] मामले में इस न्यायालय की पाँच न्यायाधीशों की पीठ ने पुरानी संहिता की धारा 492 से 495 के उपबंधों पर विचार किया, जो लोक अभियोजक की नियुक्ति से संबंधित हैं। न्यायालय ने अवलोकित किया:

"लोक अभियोजकों की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा धारा 492 की उपधारा (1) के अंतर्गत अथवा जिला दंडाधिकारी या अनुमंडल दंडाधिकारी द्वारा धारा 492 की उपधारा (2) के अंतर्गत की जाती है। धारा 492 की उपधारा (1) के अंतर्गत की गई नियुक्ति सामान्य नियुक्ति के रूप में,

6 [1967] 2 एस. सी. आर. 347

या किसी विशिष्ट मामले के लिए, या किसी स्थानीय क्षेत्र में मामलों के किसी सामान्य वर्ग के लिए हो सकती है। इस उपबंध के अंतर्गत राज्य सरकार द्वारा एक से अधिक अधिकारियों को लोक अभियोजक के रूप में नियुक्त किया जा सकता है। उपधारा (2) के अंतर्गत लोक अभियोजक की नियुक्ति केवल किसी एकल मामले के प्रयोजन के लिए होती है। उपधारा (2) के अंतर्गत लोक अभियोजक की सामान्य नियुक्ति का कोई प्रश्न नहीं उठता। अतः यह स्पष्ट है कि उपधारा (1) या उपधारा (2) के अंतर्गत, सामान्य रूप से या मामलों के किसी वर्ग/वर्गों के लिए नियुक्त किया गया कोई लोक अभियोजक अथवा लोक अभियोजकगण—सभी संहिता के अंतर्गत लोक अभियोजक हैं।"

अतः इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि श्री एल. पी. सिन्हा को संहिता की धारा 24 की उपधारा (8) के अंतर्गत विधिवत रूप से लोक अभियोजक नियुक्त किया गया था।

किंतु अपीलकर्ता द्वारा यह प्रस्तुत किया गया कि श्री ए. के. दत्ता की नियुक्ति को पहले समाप्त किए बिना श्री एल. पी. सिन्हा को लोक अभियोजक नियुक्त नहीं किया जा सकता था। अपीलकर्ता का यह प्रतिवाद नहीं था कि श्री एल. पी. सिन्हा की नियुक्ति अन्यथा अवैध थी।

17. इस प्रतिवाद का उत्तर यह है कि श्री ए. के. दत्ता ने मामले के किसी भी चरण पर, किसी भी समय, कोई आपत्ति या शिकायत प्रस्तुत नहीं की—न तो श्री एल. पी. सिन्हा की विशेष लोक अभियोजक के रूप में नियुक्ति के समय और न ही बाद में उनके द्वारा मामले के संचालन के संबंध में; और न ही श्री एल. पी. सिन्हा, जिनकी नियुक्ति तथा संहिता की धारा 321 के अंतर्गत आवेदन करने के अधिकार को चुनौती दी गई है, हमारे समक्ष उपस्थित हैं। उनकी नियुक्ति को परोक्ष रूप से चुनौती नहीं दी जा सकती, विशेष रूप से संविधान के अनुच्छेद 136 के अंतर्गत दायर आवेदन में।

श्री ए. के. दत्त की नियुक्ति को समाप्त किए बिना श्री एल. पी. सिन्हा की नियुक्ति अधिकतम स्थिति में अनियमित या अनुचित कही जा सकती है, किंतु उसे विधिक रूप से अमान्य नहीं कहा जा सकता। भारत में मान्यता प्राप्त वास्तविक क्षेत्राधिकार का सिद्धांत इस मामले में लागू होगा। *गोकराजू रंगराजू आदि बनाम आंध्र प्रदेश राज्य*[7] के मामले में, जिसमें हममें से एक (बहारुल इस्लाम, न्यायमूर्ति) पक्षकार थे, यह अभिनिर्धारित किया गया है कि:

> "अब यह सिद्धांत भली-भाँति स्थापित है कि *वास्तविक* पदधारी अधिकारियों द्वारा उनके द्वारा ग्रहण किए गए आधिकारिक अधिकार के दायरे में, लोक हित में अथवा तृतीय व्यक्तियों के हित में —और अपने निजी लाभ के लिए नहीं—किए गए कार्य सामान्यतः उतने ही वैध और बाध्यकारी होते हैं, मानो वे कार्य *विधिसम्मत* अधिकारियों द्वारा किए गए हों।"

उक्त निर्णय में संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निर्णीत 'न्यूज़ीलैंड तथा नॉर्टन बनाम शेल्बी काउंटी' के मामले में की गई निम्नलिखित टिप्पणियों का अनुमोदनपूर्वक उल्लेख किया गया—

> "जहाँ विधि के अंतर्गत कोई पद अस्तित्व में है, वहाँ पदधारी की नियुक्ति किस प्रकार की गई—इससे उसके कृत्यों की वैधता के प्रश्न पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इतना पर्याप्त है कि वह पद के चिह्नों से युक्त हो तथा उसकी शक्तियों एवं कार्यों का प्रयोग करता हो...... ऐसे व्यक्तियों के आधिकारिक कृत्य लोक-नीति के आधार पर तथा उन व्यक्तियों के संरक्षण हेतु, जिन्हें आधिकारिक कार्य संपादित करने होते हैं, वैध माने जाते हैं।"

---

7 [1981] 3 एस. सी. आर. 474

इस न्यायालय ने *गोकराजू* के मामले (उपर्युक्त) में कूली की 'संवैधानिक सीमाएँ' से निम्नलिखित अंश को भी अनुमोदनपूर्वक उद्धृत किया—

> "घुसपैठिया वह व्यक्ति होता है जो विधि के अधिकार के बिना तथा लोक-स्वीकृति के समर्थन के बिना किसी पद के कर्तव्यों का निर्वहन करने का प्रयास करता है—"
>
> किसी घुसपैठिए के कृत्यों को मान्यता देने या उनका सम्मान करने के लिए कोई भी बाध्य नहीं है, और विधि के सभी प्रयोजनों के लिए वे पूर्णतः शून्य होते हैं। किंतु व्यवस्था और नियमितता बनाए रखने के लिए, तथा लोक कार्यों के संचालन में भ्रम और निजी अधिकारों की असुरक्षा को रोकने के उद्देश्य से, वास्तविक पदधारी अधिकारियों के कृत्यों को केवल विधिक अधिकार के अभाव के आधार पर प्रश्नगत नहीं होने दिया जाता, सिवाय इसके कि इस उद्देश्य के लिए राज्य द्वारा या उस व्यक्ति द्वारा, जो विधिसम्मत रूप से उस पद का दावा करता हो, कोई प्रत्यक्ष कार्यवाही संस्थित की जाए, अथवा सिवाय इसके कि स्वयं वह व्यक्ति, जो अपने को वह अधिकारी बताता है, उसी आधार पर किसी अधिकार, विशेषाधिकार या पारिश्रमिक का दावा स्थापित करने का प्रयास करे। अन्य सभी स्थितियों में, जब तक ऐसे अधिकारी को उस पद पर बने रहने दिया जाता है, वास्तविक पदधारी अधिकारी के कृत्य उतने ही वैध और प्रभावी होते हैं मानो वह विधिसम्मत रूप से पदधारी अधिकारी हो, और लोक हित तथा तृतीय पक्षकारों की रक्षा के लिए उनसे वही विधिक परिणाम उत्पन्न होंगे। एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है, जिसे विधिक सूत्र में संक्षेप में इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है कि

वास्तविक पदधारी अधिकारियों के कृत्यों को परोक्ष रूप से प्रश्नगत नहीं किया जा सकता।

18. अगला प्रश्न यह है कि क्या संहिता की धारा 321 द्वारा अपेक्षित रूप में श्री एल. पी. सिन्हा मामले के प्रभारी थे। श्री एल. पी. सिन्हा को संबंधित मामले, अर्थात् निगरानी थाना कांड सं. 9 (2) 78, का प्रभार सौंपा गया था और उन्हें मामले का प्रभारी बनाया गया था, पत्र सं. 1829 दिनांक 25 फरवरी, 1981 के माध्यम से। पत्र का प्रासंगिक अंश इस प्रकार है:

"पत्रांक 1829

बिहार सरकार,

कैबिनेट (निगरानी) विभाग।

प्रेषक:

श्री शिवाजी सिन्हा,

सरकार के विशेष सचिव।

सेवा में

श्री ललन प्रसाद सिन्हा, अधिवक्ता,

शारदा सदन, सैंदपुर,

नाला रोड, पटना।

पटना, दिनांक 25 फरवरी, 1981

विषय— निगरानी विभाग से संबंधित मामलों हेतु अधिवक्ताओं का पैनल।

महाशय,

आपको विधि विभाग के पत्र सं. 1943 दिनांक 24.2.1981 द्वारा उपर्युक्त विषय से संबंधित पैनल अधिवक्ता के रूप में भी नियुक्त किया गया है। अनेक मामलों में मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी-सह-विशेष न्यायाधीश के न्यायालय में आरोप-पत्र प्रस्तुत किए जा चुके हैं। इन मामलों में से *निम्नलिखित मामले* अभियोजन के लिए कार्य करने हेतु *आपको आवंटित किए* जाते हैं—

1. निगरानी थाना कांड सं. 9 (2) 78
2. ....
3. ....
4. ....
5. ....

कृपया न्यायालय से वर्तमान स्थिति से अवगत होकर उक्त मामलों में अभियोजन हेतु आवश्यक कार्रवाई करें।

विश्वासभाजन,

हस्ताक्षर— शिवाजी सिन्हा

25.2.1981

सरकार के विशेष सचिव

(जोर दिया गया)|

उपर्युक्तानुसार, श्री एल. पी. सिन्हा को 24.2.1981 को सरकार के अधिवक्ता के रूप में निगरानी मामलों के संचालन हेतु नियुक्त किया गया था। अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन उनके द्वारा 17.6.1981 को किया गया—अर्थात् चार माह से अधिक समय पश्चात्। लोक अभियोजक के रूप में नियुक्त किए जाने तथा निगरानी थाना कांड सं. 9 (2) 78 का प्रभार सौंपे जाने के बाद, वे इस मामले में सात तिथियों पर उपस्थित हुए, अर्थात् 6.4.1981,

21.4.1981, 27.4.1981, 26.5.1981, 3.6.1981, 19.6.1981 तथा 20.6.1981। बिहार राज्य के विधि विभाग के सचिव द्वारा दायर शपथ-पत्र में यह कहा गया है कि आदेश से यह प्रकट होता है कि अभियोजन की ओर से श्री एल. पी. सिन्हा के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति उपस्थित नहीं हुआ। अभिलेख पर ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे यह दर्शाया जा सके कि श्री ए. के. दत्त ने कभी लोक अभियोजक के रूप में अपनी नियुक्ति स्वीकार भी की थी। अभिलेख यह भी नहीं दर्शाते कि उन्होंने मामले में कोई कदम उठाया हो। यदि श्री ए. के. दत्त मामले के प्रभारी होते, तो श्री एल. पी. सिन्हा तीन-साढ़े तीन माह की अवधि में सात भिन्न-भिन्न तिथियों पर उपस्थित होकर उसमें कार्रवाई नहीं कर सकते थे। विद्वान विशेष न्यायाधीश ने भी अपने निर्णय में तथ्य रूप से यह पाया है कि दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत आवेदन "श्री ललन प्रसाद सिन्हा, विशेष लोक अभियोजक, जो इस *मामले के प्रभारी* थे," द्वारा किया गया था (जोर दिया गया)। अतः इसमें कोई संदेह नहीं है कि संबंधित समय पर श्री एल. पी. सिन्हा ही मामले के प्रभारी थे, न कि श्री ए. के. दत्त, जैसा कि अपीलकर्ता द्वारा प्रस्तुत किया गया। इस मामले में श्री एल. पी. सिन्हा *विधि द्वारा* तथा *वास्तव में*—दोनों रूपों में—लोक अभियोजक थे।

यह तथ्यात्मक रूप से गलत था कि श्री एल. पी. सिन्हा को केवल मामले से प्रत्याहरण करने के लिए ही नियुक्त किया गया था, जैसा कि अपीलकर्ता के अधिवक्ता द्वारा प्रस्तुत किया गया। मान लें कि ऐसा होता भी, तब भी उसमें कोई अवैधता नहीं थी (देखिए 1931 कैल. 607)। यदि श्री एल. पी. सिन्हा ने दं.प्र.सं. की धारा 321 द्वारा अपेक्षित दो शर्तें पूरी की थीं, अर्थात् (i) वे लोक अभियोजक थे और (ii) मामले के प्रभारी थे, तो वे मामले के प्रत्याहरण हेतु आवेदन करने के सक्षम थे, भले ही उन्हें केवल उसी प्रयोजन से नियुक्त किया गया हो।

19. निर्णय हेतु अगला प्रश्न यह है कि क्या श्री एल. पी. सिन्हा ने स्वतंत्र रूप से कार्य किया। अपीलकर्ता का अभिवचन यह है कि श्री एल. पी. सिन्हा ने सरकार के निर्देशानुसार प्रत्याहरण हेतु आवेदन किया और उन्होंने स्वयं अपना मन नहीं लगाया।

दं.प्र.सं. की धारा 321, किसी मामले के प्रभारी लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक को न्यायालय की सहमति से अभियोजन से प्रत्याहरण करने में सक्षम बनाती है। अपीलकर्ता यह प्रस्तुत करता है—और हमारे मत में सही रूप से—कि दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत आवेदन किए जाने से पूर्व, लोक अभियोजक को किसी भी बाह्य प्रभाव के अधीन हुए बिना मामले के तथ्यों पर स्वतंत्र रूप से अपना मन लगाना होता है; और द्वितीयतः, जिस न्यायालय के समक्ष मामला लंबित है, वह भी स्वयं मामले के तथ्यों पर अपना मन लगाए बिना प्रत्याहरण हेतु अपनी सहमति नहीं दे सकता। किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि यदि लोक अभियोजक को सरकार से कोई संचार या निर्देश प्राप्त होता है तो उसका कार्य अवैध हो जाएगा।

आइए इस बिंदु पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार करें। न्यायाधीश के विपरीत, लोक अभियोजक पूर्णतः स्वतंत्र अधिकारी नहीं होता। वह केंद्र या राज्य सरकार का नियुक्त व्यक्ति होता है (देखिए धाराएँ 24 तथा 25 दं.प्र.सं.), जिसे संबंधित *सरकार की ओर से* न्यायालय में किसी अभियोजन या अन्य कार्यवाही का संचालन करने के लिए नियुक्त किया जाता है। अतः लोक अभियोजक और सरकार के बीच अधिवक्ता तथा मुवक्किल का संबंध होता है। लोक अभियोजक सरकार के निर्देशों के बिना कार्य नहीं कर सकता। लोक अभियोजक किसी मामले का संचालन पूर्णतः अपने आप पर, अथवा अपने मुवक्किल अर्थात् सरकार के निर्देशों के विपरीत नहीं कर सकता। एक अत्यधिक काल्पनिक उदाहरण लें, जिसमें सरकार ही अभियोजक है और जिसमें अभियुक्त के विरुद्ध *प्रथम दृष्टया* मामला विद्यमान है, किंतु सरकार लोक नीति के आधार पर, या विधि एवं व्यवस्था के आधार पर, या सामाजिक सद्भाव के

आधार पर, या राज्य कारणों से अभियोजन की अनुपयुक्तता के आधार पर यह महसूस करती है कि मामले को आगे नहीं बढ़ाया जाना चाहिए; ऐसी स्थिति में सरकार अभियोजन से प्रत्याहरण करने की अपनी इच्छा व्यक्त करने तथा लोक अभियोजक को अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवश्यक विधिक कदम उठाने का निर्देश देने में न्यायसंगत होगी। दं.प्र.सं. की धारा 321 लोक अभियोजक पर इस धारा के अंतर्गत आवेदन दाखिल करने से पूर्व सरकार से कोई निर्देश प्राप्त करने पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाती। यदि लोक अभियोजक ऐसे निर्देश प्राप्त करता है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह बाह्य प्रभाव के अधीन कार्य कर रहा है। इसके विपरीत, लोक अभियोजक सरकार के निर्देशों के बिना अपने आप किसी मामले के प्रत्याहरण हेतु आवेदन दाखिल नहीं कर सकता।

अब, उपर्युक्त काल्पनिक स्थिति में, यदि सरकार किसी लोक अभियोजक को किसी मामले के अभियोजन से प्रत्याहरण करने के निर्देश देती है, तो उसके लिए निम्नलिखित विकल्प उपलब्ध होते हैं—

(i) वह मामले के तथ्यों पर अपना मन लगाए बिना यांत्रिक रूप से याचिका दाखिल कर दे। यह दं.प्र.सं. की धारा 321 द्वारा परिकल्पित नहीं है;

(ii) वह स्वयं मामले के तथ्यों पर अपना मन लगाए, सरकार के निर्देशों से सहमत हो, और प्रत्याहरण के आधारों का उल्लेख करते हुए याचिका दाखिल करे। यही वह स्थिति है जिसकी धारा में परिकल्पना की गई है और यही इस मामले में किया गया है; अथवा

(iii) वह सरकार से कह सकता है— "यह अभियोजन के लिए एक अच्छा मामला है; दोषसिद्धि लगभग सुनिश्चित है; और मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि मामले से प्रत्याहरण किया जाना

चाहिए; मैं प्रत्याहरण हेतु याचिका दाखिल नहीं करने जा रहा हूँ।" ऐसी स्थिति में लोक अभियोजक को ब्रीफ लौटाना पड़ेगा और संभवतः त्यागपत्र देना पड़ेगा। क्योंकि राज्य के व्यापक हितों की जानकारी लोक अभियोजक को नहीं, बल्कि सरकार को होती है।

20. अब हम यह देखें कि क्या श्री एल. पी. सिन्हा ने आवेदन करने से पूर्व मामले के तथ्यों पर अपना मन लगाया था। उन्होंने न्यायालय के समक्ष निम्नलिखित आवेदन प्रस्तुत किया—

"मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी, पटना के न्यायालय में

प्रत्याहरण वाद सं. —— सन् 1981

निगरानी थाना कांड सं. 9(2)78 में

लोक अभियोजक की ओर से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अंतर्गत निगरानी थाना कांड सं. 9(2)78 के प्रत्याहरण हेतु विनम्र याचिका|

अत्यंत विनम्रतापूर्वक निवेदन है कि :

1. यह कि यह याचिका निगरानी थाना कांड सं. 9(2)78 के प्रत्याहरण हेतु है, जिसमें डॉ. जे. एन. मिश्रा, श्री जीवनन्द झा तथा श्री एन. के. पी. सिन्हा के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धाराएँ 466/120बी/109 तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धाराएँ 5(1)(क), 5(1)(ख), 5(1)(ग), पठित धारा 5(2) के अंतर्गत आरोप-पत्र समर्पित किया गया है।

2. यह कि उक्त मामले का अभियोजन सरकार की अत्यंत महत्वपूर्ण लोक-नीति से संबंधित प्रश्नों को सम्मिलित करता है,

जिसके व्यापक परिमाण के दूरगामी परिणाम हो सकते हैं तथा जो व्यापक लोक-हित से संबंधित बड़े प्रश्नों को भी प्रभावित कर सकते हैं; अतः अभियोजन को जारी रखने की उपयुक्तता का व्यापक परीक्षण राज्य सरकार द्वारा तथा मेरे द्वारा भी किया गया। (क) साक्ष्यों के आलोक में सफल अभियोजन की संभावना के अभाव, (ख) राजनीतिक तथा व्यक्तिगत प्रतिशोध के परिणामस्वरूप व्यक्तियों को फँसाए जाने, (ग) राज्य कारणों एवं लोक-नीति के आधार पर अभियोजन की अनुपयुक्तता, तथा (घ) परिवर्तित परिस्थितियों के आलोक में अभियोजन की निरंतरता से लोक-हित पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभाव—इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, तथा गंभीर विचार एवं पूर्ण मंथन के उपरांत, मैं उपर्युक्त मामले में सम्मिलित सभी व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु यह याचिका प्रस्तुत करने का विनम्र निवेदन करता हूँ।

3. यह कि मैंने, अतः, कांड दैनंदिनी तथा मामले से संबंधित प्रासंगिक सामग्रियों का अवलोकन किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मामले की स्थापना तथा उसके अनुसंधान के समय विद्यमान परिस्थितियों में यह प्रतीत होता है कि यह मामला राजनीतिक प्रतिशोध के आधार पर तथा केवल डॉ. जे. एन. मिश्रा—जो उस समय विपक्ष के नेता थे और देश में कांग्रेस पार्टी के स्वीकृत नेताओं में से एक थे—की निष्पक्ष छवि को धूमिल करने के उद्देश्य से संस्थित किया गया था। अभियोजन लोक-न्याय के हित को आगे बढ़ाने के लिए प्रारंभ नहीं किया गया

था। मैं इस याचिका के प्रस्तुत किए जाने के समय उपर्युक्त निवेदन एवं निष्कर्ष के समर्थन में सामग्री प्रस्तुत करने की अनुमति प्रार्थना करता हूँ।

4. यह कि लोक-हित में यह आवश्यक है कि ऐसा अभियोजन, जिसके सफल होने की कोई युक्तिसंगत संभावना नहीं है और जिसे लोक-न्याय के उद्देश्य की उन्नति से असंबद्ध राजनीतिक प्रतिशोध के परिणामस्वरूप प्रारंभ किया गया है, आगे न बढ़ाया जाए। विशेष रूप से इसलिए भी कि यह कार्यपालिका के प्रमुख के विरुद्ध निर्देशित है, जिन पर न केवल मतदाताओं ने अपना विश्वास और भरोसा व्यक्त किया है, बल्कि जिन्हें विधानमंडल में बहुमत दल का नेता भी निर्वाचित किया गया है; ये दोनों घटनाएँ मामले की स्थापना के पश्चात् घटित हुई हैं।

अतः प्रार्थना है कि आपका माननीय न्यायालय कृपया इस मामले में अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन से प्रत्याहरण की अनुमति प्रदान करने की कृपा करे तथा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 321 के अनुरूप आगे आवश्यक आदेश पारित करने की भी कृपा करे।

और इसके लिए याचिकाकर्ता सदैव प्रार्थना करेगा।

उपर्युक्त आवेदन का मात्र अवलोकन ही यह प्रचुर रूप से दर्शाता है कि श्री एल. पी. सिन्हा ने मामले के तथ्यों पर अपना मन लगाया था; उन्होंने आवेदन प्रस्तुत करने से पूर्व कांड दैनंदिनी तथा मामले से संबंधित प्रासंगिक सामग्रियों का अवलोकन किया था। उन्होंने सरकार के पत्र सं. एम/26-81 जे., दिनांक 25 फरवरी, 1981 (जैसा कि ऊपर उद्धृत है) से यांत्रिक रूप से उद्धरण नहीं किया, जिसमें केवल एक ही आधार निहित था, अर्थात् राज्य कारणों एवं लोक-नीति के आधार पर अभियोजन की अनुपयुक्तता। उक्त पत्र की विषय-वस्तु

की तुलना दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत प्रस्तुत आवेदन की विषय-वस्तु से करने पर अपीलकर्ता का यह प्रतिवाद पूर्णतः खंडित हो जाता है कि श्री एल. पी. सिन्हा ने स्वयं स्वतंत्र रूप से मामले के तथ्यों पर अपना मन नहीं लगाया और उन्होंने बाह्य विचारों के आधार पर अंधाधुंध कार्य किया।

लोक अभियोजक के मन के प्रयोग न किए जाने के प्रमाण के रूप में, विद्वान अधिवक्ता ने यह इंगित किया कि श्री एल. पी. सिन्हा ने अपनी याचिका में, अन्य बातों के साथ-साथ, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5(1)(घ) के स्थान पर धारा 5(1)(ग) का उल्लेख कर दिया। हमारे मत में, मामले की पृष्ठभूमि में, यह इतना तुच्छ दोष है कि उस पर ध्यान दिया जाना आवश्यक नहीं है।

21. इसके पश्चात् अपीलकर्ता ने यह प्रस्तुत किया कि न्यायालय ने अभियोजन से प्रत्याहरण के लिए अपनी सहमति प्रदान करने में त्रुटि की, क्योंकि उसके समक्ष विचारणीय मामला विद्यमान था। यह प्रस्तुति भ्रांत है। दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत न्यायालय को यह देखना होता है कि क्या आवेदन प्रत्याहरण के लिए वैध आधार प्रकट करता है—ऐसे वैध आधार, जैसा कि इस न्यायालय द्वारा न्यायिक रूप से प्रतिपादित किया गया है।

विद्वान अधिवक्ता ने इस न्यायालय के निम्नलिखित निर्णयों का उल्लेख किया—*बिहार राज्य बनाम राम नरेश पांडेय*[8], *पंजाब राज्य बनाम सुरजीत सिंह तथा अन्य*[9], *एम. एन.एस. नायर बनाम पी. वी. बालकृष्णन तथा अन्य*[10], *बंसी लाल बनाम चंदन लाल*[11], *उड़ीसा राज्य*

---

8 [1957] एस.सी.आर. 279

9 [1967] 2 एस.सी.आर. 347

10 [1972] 2 एस.सी.आर. 599

11 ए.आई.आर. 1976 एस.सी. 370

बनाम चंद्रिका महापात्रा तथा अन्य[12], *बलवंत सिंह तथा अन्य बनाम बिहार राज्य*[13], *राजेंद्र कुमार जैन का मामला*[14]।

हमें इन सभी निर्णयों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है, सिवाय *राजेंद्र कुमार जैन के मामले (उपर्युक्त)*, जिसे आगे "*जॉर्ज फर्नांडिस का मामला*" कहा गया है, क्योंकि इस निर्णय में पूर्ववर्ती सभी निर्णयों पर विचार किया गया है और टिप्पणियों का निम्नानुसार सार प्रस्तुत किया गया है—

"अतः इस न्यायालय के दृष्टांतों से हम यह ग्रहण करते हैं—

(1) संहिता की योजना के अंतर्गत किसी गंभीर अपराध के लिए अपराधी के अभियोजन की प्राथमिक जिम्मेदारी कार्यपालिका की होती है।

(2) अभियोजन से प्रत्याहरण लोक अभियोजक का एक कार्यपालिक कृत्य है।

(3) अभियोजन से प्रत्याहरण करने का विवेकाधिकार लोक अभियोजक का होता है और किसी अन्य का नहीं; अतः वह उस विवेकाधिकार को किसी अन्य के समक्ष समर्पित नहीं कर सकता।

(4) सरकार लोक अभियोजक को यह सुझाव दे सकती है कि वह अभियोजन से प्रत्याहरण करे, किंतु कोई भी उसे ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता।

---

12 [1977] 1 एस.सी.आर. 335

13 (1978) 1 एस.सी.आर. 604

14 [1980] 3 एस.सी.आर. 370

(5) लोक अभियोजक अभियोजन से प्रत्याहरण केवल साक्ष्य की कमी के आधार पर ही नहीं, बल्कि लोक-न्याय, लोक-व्यवस्था और शांति के व्यापक उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए अन्य प्रासंगिक आधारों पर भी कर सकता है। लोक-न्याय के व्यापक उद्देश्य निश्चित रूप से उपयुक्त सामाजिक, आर्थिक तथा—हम जोड़ते हैं—राजनीतिक प्रयोजनों को भी सम्मिलित करेंगे, टैमनी हॉल एंटरप्राइज से रहित।

(6) लोक अभियोजक न्यायालय का अधिकारी होता है और न्यायालय के प्रति उत्तरदायी होता है।

(7) न्यायालय प्रत्याहरण के लिए अपनी सहमति प्रदान करने में पर्यवेक्षी कार्य करता है।

(8) न्यायालय का कर्तव्य यह नहीं है कि वह उन आधारों का पुनर्मूल्यांकन करे जिनके कारण लोक अभियोजक ने अभियोजन से प्रत्याहरण का अनुरोध किया, बल्कि यह विचार करना है कि क्या लोक अभियोजक ने अप्रासंगिक और बाह्य विचारों से अप्रभावित होकर, एक स्वतंत्र अभिकर्ता के रूप में, अपना मन लगाया है। इस संबंध में न्यायालय का एक विशेष कर्तव्य है, क्योंकि अभियोजन से प्रत्याहरण के लिए अपनी सहमति प्रदान करने या उसे रोकने में विधायी विश्वास का अंतिम भंडार वही है।" (जोर दिया गया)

उपर्युक्त निर्णय में न्यायालय ने यह भी अवलोकन किया है:

"जहाँ कहीं मुद्दे भावनाओं को स्पर्श करते हों और वातावरण में हिंसा का अधिभार हो, वहाँ शांति बहाल करने के लिए, वातावरण

को हिंसा के अधिभार से मुक्त करने के लिए, मुद्दों के शांतिपूर्ण समाधान को संभव बनाने के लिए तथा तूफान के पश्चात् उत्पन्न होने वाले शांति-भाव को बनाए रखने के लिए अभियोजनों से प्रत्याहरण करना अनेक बार आवश्यक पाया गया है। जहाँ भावनात्मक मुद्दे सम्मिलित हों, वहाँ विधि का प्रतिपादन करने के नाम पर अभियोजनों को जारी रखना भी पूर्णतः प्रतिकूल सिद्ध हो सकता है। जनता की भावनाओं और अनुभूतियों के प्रति संवेदनशील और प्रत्युत्तरदायी एक निर्वाचित सरकार, यदि सद्भाव का वातावरण निर्मित करने के उद्देश्य से या उस शांति को भंग न करने के उद्देश्य से, जो अवतरित हो चुकी हो, सम्मिलित अपराधियों के विरुद्ध अभियोजन न करने का या पहले से आरंभ किए गए अभियोजनों को आगे न बढ़ाने का निर्णय लेती है, *तो वह पूर्णतः न्यायोचित होगी। ऐसे मामलों में, सरकार के अतिरिक्त कौन है जो प्रथम दृष्टया यह निर्णय कर सकता है और करना चाहिए कि अभियोजन आरंभ करना या उसे जारी रखना हानिकर होगा या लाभकारी। यदि सरकार यह निर्णय लेती है कि अभियोजनों से प्रत्याहरण करना लोक-हित में होगा, तो सरकार इस कार्य को किस प्रकार संपन्न करे।"*

न्यायालय ने आगे यह भी अवलोकन किया—

"किन्तु जहाँ लोक-नीति के ऐसे व्यापक और संवेदनशील प्रश्न सम्मिलित हों, वहाँ वह (लोक अभियोजक), यदि वह सही दृष्टि वाला हो, तो नीति-निर्माताओं से परामर्श और मार्गदर्शन अवश्य प्राप्त करेगा। उसके सूचना-स्रोत और संसाधन नीति-निर्माताओं की तुलना में अत्यंत सीमित होते हैं। यदि नीति-निर्माता स्वयं *प्रथम दृष्टया* इस विषय में

पहल करें, जैसा कि उन्हें करना ही चाहिए जहाँ अत्यंत महत्वपूर्ण लोक-नीति के प्रश्न सम्मिलित हों, और यदि वे लोक अभियोजक को अभियोजन से प्रत्याहरण करने की सलाह दें, तो यह कहना न्यायालय का कार्य नहीं है कि पहल सरकार की ओर से आई थी और इसलिए लोक अभियोजक को स्वतंत्र मन से कार्य करने वाला नहीं माना जा सकता। और न ही शब्दों को लेकर कोई बाल-की-खाल निकालने का प्रश्न हो सकता है।"(जोर दिया गया)

यह निर्णय, अपीलकर्ता के विद्वान अधिवक्ता द्वारा उठाए गए उस प्रतिवाद का पूर्ण उत्तर है कि किसी विचारणीय मामले से प्रत्याहरण नहीं किया जा सकता। साक्ष्य की कमी प्रत्याहरण के आधारों में से केवल एक आधार है।

22. इस निर्णय का सामना करते हुए विद्वान अधिवक्ता ने यह प्रस्तुत किया कि वर्तमान मामला सामान्य विधि के अपराधों से संबंधित है, जबकि *जॉर्ज फर्नांडिस* का मामला (उपर्युक्त) राजनीतिक अपराधों से संबंधित था, और अधिवक्ता के अनुसार केवल ऐसे अपराधों के संबंध में ही अभियोजन से प्रत्याहरण की अनुमति दी जा सकती है। हम इस निवेदन को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। दं.प्र.सं. की धारा 321 ने सामान्य विधि के अपराधों और राजनीतिक अपराधों के बीच कोई द्विभाजन नहीं किया है। *जॉर्ज फर्नांडिस* के मामले (उपर्युक्त) में न्यायालय ने, हमारे मत में उचित रूप से, यह कहा "यह कहना कि कोई अपराध राजनीतिक प्रकृति का है, अपराधियों को अपराध से मुक्त करना नहीं है। किंतु प्रश्न यह है कि क्या यह सरकार के लिए लोक अभियोजक को अभियोजन से प्रत्याहरण करने की सलाह देने का वैध आधार है।"(जोर दिया गया) दं.प्र.सं. की धारा 321 में किसी प्रकार के द्विभाजन का अभाव हमें उस धारा के मूल उद्देश्य का परिणाम प्रतीत होता है। इस धारा की आवश्यकता क्या है। अपराध तो अपराध है। विचारण का अंत अभियुक्त की दोषसिद्धि या दोषमुक्ति में होगा। यदि अपराध समझौता-योग्य है, तो उसका समझौता किया जा सकता है। किंतु यदि

अपराध समझौता-योग्य नहीं है, तो विचारण से प्रत्याहरण क्यों किया जाना चाहिए। भारतीय दंड संहिता की धाराएँ 121-ए, 120-बी, तथा विस्फोटक पदार्थ अधिनियम, 1908 की धाराएँ 4, 5 और 6, और भारतीय विस्फोटक अधिनियम, 1884 की धाराएँ 5(3)(ख) और 12 (जैसा कि *जॉर्ज फर्नांडिस* के मामले में था), भारतीय दंड संहिता की धाराएँ 420/466/471/109/120-बी तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धाराएँ 5(1)(क), 5(1)(ख) और 5(1)(घ) (जैसा कि वर्तमान मामले में है) की तुलना में कम घृणित कैसे हैं। क्या राज्य की सुरक्षा से संबंधित अपराध भ्रष्टाचार से कम गंभीर हैं। हमारे मत में, उत्तर नकारात्मक है। इसके विपरीत ही अधिक सत्य प्रतीत होता है।

हमारे मत में, दं.प्र.सं. की धारा 321 का उद्देश्य कार्यपालिका सरकार के पास यह शक्ति सुरक्षित रखना प्रतीत होता है कि वह लोक-नीति के व्यापक आधारों पर—जैसे राज्य के कारणों से अभियोजन की अनुपयुक्तता; विधि और व्यवस्था के अनुरक्षण जैसे व्यापक लोक-हित; लोक-शांति और सौहार्द का संरक्षण; सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारण; परिवर्तित सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ; स्थिर सरकार के अस्थिरीकरण से बचाव आदि—किसी भी आपराधिक मामले से प्रत्याहरण कर सके। और ऐसी शक्तियाँ, हमारे मत में, सरकार के लिए यथोचित रूप से सुरक्षित रखी गई हैं; क्योंकि सरकार के अतिरिक्त और कौन है जो किसी राज्य या देश में विद्यमान ऐसी परिस्थितियों और स्थितियों से अवगत होता है। न्यायालय ऐसी परिस्थितियों को जानने की स्थिति में नहीं होता।

23. *जॉर्ज फर्नांडिस* के मामले (उपर्युक्त) में, श्री जॉर्ज फर्नांडिस के विरुद्ध लगाए गए आरोप यह थे कि, जो बाद में जनता शासनकाल के दौरान संघ सरकार के मंत्री बने, पच्चीस जून, उन्नीस सौ पचहत्तर को आपातकाल की उद्घोषणा के पश्चात्, श्री जॉर्ज फर्नांडिस, जो भारतीय समाजवादी पार्टी के अध्यक्ष तथा रेलवेमेंस फेडरेशन के अध्यक्ष थे, ने उक्त आपातकाल के विरुद्ध प्रतिरोध को भड़काने तथा सरकार को अपदस्थ करने का प्रयास किया और उस उद्देश्य की पूर्ति में विभिन्न कृत्य किए। अनुसंधान अधिकारी ने श्री फर्नांडिस तथा

चौबीस अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धाराएँ 121-ए, 120-बी, विस्फोटक पदार्थ अधिनियम, 1908 की धाराएँ 4, 5 और 6 के साथ पठित, तथा भारतीय विस्फोटक अधिनियम, 1884 की धाराएँ 5(3)(ख) और 12 के अंतर्गत अपराधों के लिए आरोपपत्र प्रस्तुत किया।अभियुक्त व्यक्तियों में से दो को क्षमा प्रदान की गई थी। अतः, इस तथ्य के बावजूद कि यह मामला सत्र न्यायालय द्वारा अनन्य रूप से विचारणीय था, उन्हें अपराधों का संज्ञान लेने वाले मजिस्ट्रेट के न्यायालय में साक्षी के रूप में परीक्षित किया जाना था। स्वीकृतकर्ता का साक्ष्य बाईस मार्च, उन्नीस सौ सत्तहत्तर को अभिलिखित किया गया और मामले को आगे की कार्यवाही के लिए छब्बीस मार्च, उन्नीस सौ सत्तहत्तर तक स्थगित किया गया। उस चरण पर, अर्थात् छब्बीस मार्च, उन्नीस सौ सत्तहत्तर को, श्री एन. एस. माथुर, विशेष लोक अभियोजक ने दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत अभियोजन से प्रत्याहरण के लिए अनुमति हेतु एक आवेदन प्रस्तुत किया। आवेदन इस प्रकार है:

"राज्य की ओर से निम्नानुसार निवेदन किया जाता है|-

1. कि चौबीस सितंबर, उन्नीस सौ छिहत्तर को, विशेष पुलिस स्थापना ने आवश्यक अनुसंधान के पश्चात्, इस माननीय न्यायालय में श्री जॉर्ज मैथ्यू फर्नांडिस तथा चौबीस अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध भा.दं.सं. की धारा 121-ए, धारा 120-बी, विस्फोटक पदार्थ अधिनियम, 1908 की धाराएँ 4, 5 और 6 के साथ पठित, तथा भारतीय विस्फोटक अधिनियम, 1884 की धाराएँ 5(3)(ख) और 12, तथा मूल अपराधों के अंतर्गत आरोपपत्र दायर किया था।

2. कि जिन अभियुक्तों को विचारण के लिए प्रस्तुत किया गया था, उनके अतिरिक्त, दो अभियुक्त, अर्थात् श्री भारत सी. पटेल और रेवती कांत सिन्हा को इस माननीय न्यायालय द्वारा क्षमा प्रदान

की गई और उन्हें दं.प्र.सं. की धारा 306(4) के अंतर्गत स्वीकृतकर्ता के रूप में परीक्षित किया गया।

3. कि आरोपपत्र में विचारण के लिए प्रस्तुत किए गए पच्चीस अभियुक्तों में से दो अभियुक्त, अर्थात् लाडली मोहन निगम और अतुल पटेल, को इस माननीय न्यायालय द्वारा उद्घोषित अपराधी घोषित किया गया।

4. कि लोक-हित और परिवर्तित परिस्थितियों में, केंद्रीय सरकार ने सभी अभियुक्तों के विरुद्ध अभियोजनों से प्रत्याहरण करने की इच्छा व्यक्त की है।

5. अतः यह प्रार्थना की जाती है कि यह माननीय न्यायालय छब्बीस मार्च, उन्नीस सौ सतहत्तर से अभियोजन से प्रत्याहरण करने के लिए सहमति प्रदान करे।

हस्ताक्षरित—

(एन. एस. माथुर)

नई दिल्ली राज्य के लिए विशेष लोक अभियोजक।"

यह देखा जाता है कि प्रत्याहरण का एकमात्र आधार "लोक-हित और परिवर्तित परिस्थितियाँ" था, जैसा कि याचिका के अनुच्छेद चार में उल्लिखित है।

मुख्य महानगरीय दंडाधिकारी ने इस आधार पर अभियोजन से प्रत्याहरण के लिए अपनी सहमति प्रदान की कि "अभियोजन से प्रत्याहरण के लिए सहमति प्रदान करना उपयुक्त है।" (जोर दिया गया) पुनरीक्षण में, उच्च न्यायालय ने दंडाधिकारी के आदेश की पुष्टि की। विशेष अनुमति द्वारा की गई अपील इस न्यायालय द्वारा खारिज कर दी गई। दूसरे शब्दों में, "लोक-हित" और "परिवर्तित परिस्थितियाँ" के आधार पर अभियोजन से प्रत्याहरण

करने की सरकार की इच्छा का उल्लेख करने वाला आवेदन दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत वैध माना गया।

24. अगला प्रश्न विचारण हेतु यह है कि क्या विशेष न्यायाधीश द्वारा दी गई अनुमति, इस संबंध में इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादित विधि का उल्लंघन करते हुए दी गई थी। हम पहले ही अपीलकर्ता द्वारा उद्धृत निर्णयों का उल्लेख कर चुके हैं। उपर्युक्त निर्णयों की श्रृंखला में इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादित विधि, अन्य बातों के साथ-साथ, यह है—

(1) अभियोजन से प्रत्याहरण लोक अभियोजक का एक कार्यपालिक कार्य है और अभियोजन से प्रत्याहरण करने का अंतिम निर्णय उसी का होता है;(2) सरकार लोक अभियोजक को यह सुझाव दे सकती है कि किसी विशेष मामले को आगे न बढ़ाया जाए, किंतु कोई भी उसे ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता;(3) केवल साक्ष्य की अपर्याप्तता ही नहीं, बल्कि लोक-न्याय के व्यापक उद्देश्यों को आगे बढ़ाने जैसे अन्य प्रासंगिक आधार—आर्थिक और राजनीतिक; लोक-व्यवस्था और शांति—भी प्रत्याहरण के वैध आधार हैं।न्यायालय द्वारा सहमति प्रदान करने या सहमति वापस लेने की शक्ति का प्रयोग विवेकाधीन है। निश्चय ही, इस विवेक का प्रयोग न्यायिक रूप से किया जाना होता है। न्यायालय की शक्ति का प्रयोग इस सीमा तक न्यायिक है कि न्यायालय, सहमति प्रदान करते या प्रदान करने से इंकार करते समय, यह देखे—(i) कि प्रत्याहरण के आधार वैध हैं या नहीं; और(ii) कि आवेदन सद्भावपूर्ण है या मिलीभगतपूर्ण।यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत न्यायालय द्वारा पारित आदेश—चाहे वह सहमति प्रदान करने का हो या सहमति प्रदान करने से इंकार करने का—अपीलयोग्य नहीं है। विशेष न्यायाधीश के आक्षेपित आदेश के मात्र अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने मामले के तथ्यों पर अपना मन लगाया है और साथ ही जॉर्ज फर्नांडिस के मामले में इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादित विधि—जो इस विषय पर संपूर्ण विधि का सार प्रस्तुत करती है—पर भी अपना मन लगाया है, और

उन्हें वर्तमान मामले के तथ्यों पर सही ढंग से लागू किया है। अतः यह कहना सही नहीं है कि विशेष न्यायाधीश का निर्णय इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादित विधि के प्रतिकूल था।

25. अपीलकर्ता की एकमात्र अन्य प्रस्तुति यह है कि विशेष न्यायाधीश द्वारा विचारण हेतु एक प्रथमदृष्टया मामला विद्यमान है और यह न्यायालय उसे विचारण के लिए उनके पास वापस भेजे। हमने ऊपर यह अभिनिर्धारित किया है कि प्रथमदृष्टया मामला विद्यमान होने पर भी आपराधिक कार्यवाही से प्रत्याहरण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, संविधान के अनुच्छेद 136 के अंतर्गत विशेष अनुमति द्वारा दायर आपराधिक अपील में, जो दोषसिद्धि या दोषमुक्ति के आदेश के विरुद्ध होती है, इस न्यायालय की सामान्य प्रथा यह है कि यह न्यायालय अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्य का अवलोकन कर उसका पुनर्मूल्यांकन नहीं करता कि अधीनस्थ न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्यात्मक निष्कर्ष सही हैं या त्रुटिपूर्ण; और इससे भी कम यह पुलिस डायरी का अवलोकन करता है कि क्या अनुसंधान अधिकारी द्वारा पर्याप्त सामग्री संकलित की गई थी। यह अधीनस्थ न्यायालयों के निष्कर्षों को स्वीकार करता है, जब तक यह प्रदर्शित न कर दिया जाए कि वे निष्कर्ष विधि के सिद्धांतों के गलत अनुप्रयोग का परिणाम हैं और आक्षेपित आदेश से न्याय का गंभीर हनन हुआ है।

26. हमारे मत में, दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत पारित आदेश का वही दर्जा नहीं है जो आपराधिक अभियोजन में विचारण या अपीलीय न्यायालय द्वारा अभिलिखित दोषसिद्धि या दोषमुक्ति के आदेश का होता है, क्योंकि पूर्ववर्ती आदेश को अपीलयोग्य नहीं बनाया गया है। दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत पारित आदेश का क्षेत्राधिकार अधिक संकीर्ण है। विचारण न्यायालय द्वारा दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत अभिलिखित आदेश न्यायिक होता है; और विचारण न्यायालय से यह अपेक्षित होता है कि वह प्रत्याहरण के लिए सहमति प्रदान करने या सहमति प्रदान करने से इंकार करने के कारण बताए। जैसा कि ऊपर कहा गया है, न्यायालय का कर्तव्य यह देखना है कि प्रत्याहरण के आधार विधिक रूप से वैध हैं और लोक अभियोजक द्वारा किया गया आवेदन सद्भावपूर्ण है तथा मिलीभगतपूर्ण नहीं है।

दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत पारित आदेश के पुनरीक्षण में, उच्च न्यायालय का कर्तव्य यह देखना होता है कि विचारण न्यायालय द्वारा धारा 321 के अंतर्गत आवेदन पर किया गया विचारण भ्रामक दिशा में तो नहीं गया और प्रत्याहरण के आधार विधिक रूप से वैध हैं। वर्तमान मामले में, विचारण न्यायालय ने प्रत्याहरण के आधारों पर विस्तार से विचार किया और उन्हें वैध पाया तथा तदनुसार प्रत्याहरण के लिए अपनी सहमति प्रदान की। पुनरीक्षण में, उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के निष्कर्षों की पुष्टि की।

हमें विशेष अनुमति द्वारा की गई इस अपील में अधीनस्थ न्यायालयों के निष्कर्षों में हस्तक्षेप करने तथा अनुसंधान के दौरान अनुसंधान अधिकारियों द्वारा संकलित साक्षियों के अभिलिखित कथनों या अन्य सामग्रियों का अवलोकन करने का कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता।

27. यद्यपि यह न तो श्री वेणुगोपाल द्वारा अपनी दलील के आरंभ में प्रतिपादित तीन बिंदुओं से उत्पन्न होता है और न ही प्रत्याहरण का विरोध करने वाली अपीलकर्ता की याचिका से उत्पन्न होता है, तथापि विद्वान अधिवक्ता ने यह प्रस्तुत किया कि विशेष न्यायाधीश द्वारा विचारण हेतु एक प्रथमदृष्टया मामला विद्यमान है और मामला विचारण के लिए उनके पास पुनः प्रेषित किया जाना चाहिए। चूँकि इस पहलू पर विस्तृत तर्क प्रस्तुत किए गए हैं, अतः हम इसका भी परीक्षण करते हैं।

विद्वान अधिवक्ता निष्पक्ष रूप से स्वीकार करते हैं कि वे मौखिक साक्ष्य पर अधिक निर्भर नहीं करते, बल्कि दो दस्तावेजी साक्ष्यों पर प्रबल निर्भरता रखते हैं, अर्थात् डॉ. मिश्रा द्वारा कथित रूप से जाली दस्तावेजों का सृजन और हैदरी का कथनात्मक वक्तव्य, जिसमें डॉ. मिश्रा को संलिप्त बताया गया है।

पक्षकारों के विद्वान अधिवक्ताओं द्वारा उस दस्तावेजी साक्ष्य पर विस्तृत तर्क प्रस्तुत किए गए, जो अपीलकर्ता के अधिवक्ता के अनुसार उत्तरदाता क्रमांक दो की दोषसिद्धि का

आधार बनेगा। वह दस्तावेजी साक्ष्य यह था कि उत्तरदाता सं 2 ने, मुख्यमंत्री के रूप में, 16-5-1975 को हिंदी में एक आदेश पारित किया। इस आदेश का अंग्रेज़ी अनुवाद इस प्रकार है—

> "काफी समय व्यतीत हो चुका है। फाइल के अवलोकन से यह प्रतीत होता है कि बैंक के अध्यक्ष और बोर्ड के सदस्यों के विरुद्ध गबन का कोई आरोप नहीं है। ऋणग्राहियों से ऋण की वसूली के लिए कठोर कार्रवाई की जानी चाहिए और यदि ऋणग्राहियों से वसूली में कठिनाइयाँ हों, तो निदेशक मंडल के विरुद्ध सरचार्ज कार्यवाहियाँ प्रारंभ की जानी चाहिए। वार्षिक आम बैठक आहूत कर तथा निर्वाचन आयोजित कर बैंक में सामान्य स्थिति बहाल की जाए।"

अपीलकर्ता के अनुसार, उत्तरदाता सं 2 ने निम्नलिखित नया आदेश लिखा—

> "वार्षिक आम बैठक आयोजित करने के पश्चात् बैंक में सामान्य स्थिति बहाल करने के लिए आदेश जारी किए जाएँ।
>
> हस्ताक्षरित/— जगन्नाथ मिश्रा
>
> 14-5-75"

और उसे पूर्ववर्ती आदेश के ऊपर चिपका दिया।

अपीलकर्ता के अनुसार, उत्तरदाता सं 2 ने मूल हिंदी अंक '6' पर '4' (हिंदी में) लिखकर दिनांक 16-5-1975 को बदलकर 14-5-1975 कर दिया। इन तथ्यों का हमारे समक्ष उत्तरदाता सं 2 द्वारा खंडन नहीं किया गया है।

अपीलकर्ता की प्रस्तुति यह थी कि उपर्युक्त पूर्वदिनांकित करने के कृत्य द्वारा, अधिलेखन करके, उत्तरदाता सं 2 ने जालसाजी की और पूर्ववर्ती आदेश के ऊपर चिपकाने के द्वारा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5(1)(घ) के अंतर्गत अपराध किया, क्योंकि उस

पश्चातवर्ती कृत्य से उसने अधिभार कार्यवाहियों को रोककर उत्तरदाता सं 3 श्री नवल किशोर को आर्थिक लाभ प्राप्त कराया।

28. आगे बढ़ने से पूर्व, यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि विशेष न्यायाधीश के समक्ष अपने आवेदन में अपीलकर्ता ने दं.प्र.सं. की धारा 321 के अंतर्गत लोक अभियोजक द्वारा दायर आवेदन में प्रत्याहरण के किसी भी आधार पर दोष नहीं निकाला। उसकी एकमात्र दलील यह थी कि लोक अभियोजक द्वारा मामले को विफल करने का प्रयास किया जा रहा है और यह कि न्यायालय को प्रत्याहरण के लिए सहमति प्रदान करने से पूर्व अपना स्वतंत्र मन लगाना चाहिए तथा उसे इस विषय में सुना जाना चाहिए। उसने किसी भी पूर्वदिनांकित करने द्वारा या किसी पूर्ववर्ती आदेश को चिपकाने द्वारा की गई किसी जालसाजी का कोई उल्लेख नहीं किया और न ही किसी अपराधी को संरक्षण देने के किसी प्रयास का। इस प्रकार, उसने विशेष न्यायाधीश और उच्च न्यायालय को चिपकाने और पूर्वदिनांकित करने के आरोपों पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से वंचित कर दिया और परिणामतः हमें भी अधीनस्थ न्यायालयों के ऐसे निष्कर्षों के लाभ से वंचित कर दिया। तथ्य का यह प्रश्न अब इस अपील में अपीलकर्ता के विद्वान अधिवक्ता द्वारा बहस के दौरान पहली बार इस न्यायालय के संज्ञान में लाने का प्रयास किया गया है। ऐसा तथ्यात्मक प्रश्न, जिसके लिए अनुसंधान आवश्यक है, संविधान के अनुच्छेद 136 के अंतर्गत विशेष अनुमति द्वारा दायर अपील में पहली बार उठाए जाने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

29. फिर भी, जैसा भी हो, आइए इस तर्क का परीक्षण करें। किंतु इसे नज़ीर के रूप में नहीं माना जाएगा। चिपकाए गए आदेश में निम्नलिखित बातें निहित थीं—

(i) मुख्यमंत्री का यह निष्कर्ष कि बैंक के अध्यक्ष और बोर्ड के सदस्यों के विरुद्ध गबन का कोई आरोप नहीं था;

(ii) ऋणग्राहियों से ऋण की वसूली के लिए कठोर कार्रवाई करने का निर्देश;

(iii) वसूली में कठिनाई होने की स्थिति में सरचार्ज कार्यवाहियाँ प्रारंभ करने का निर्देश;

(iv) बैंक की वार्षिक आम बैठक आहूत करने तथा सामान्य स्थिति बहाल करने के लिए निर्वाचन कराने का निर्देश।

उपर्युक्त (i), (ii) और (iii) के विरुद्ध वाले अंश ही नवीन आदेश चिपकाने से आच्छादित किए गए थे, जो कि ऊपर उल्लिखित (iv) मात्र है। अपीलकर्ता की प्रस्तुति यह है कि प्रथम तीन निर्देशों को आच्छादित करके उत्तरदाता सं 2 ने उत्तरदाता सं 3 तथा अन्य व्यक्तियों को, जिनमें उत्तरदाता सं 3 भी सम्मिलित है, अपराधियों से देय राशि की वसूली करने से अथवा उनके विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियाँ प्रारंभ करने से संरक्षण प्रदान किया। इस तर्क का उत्तर त्रिविध है:

(i) मुख्यमंत्री द्वारा अधिभार का आदेश विधि द्वारा अपेक्षित नहीं है। बिहार सहकारी समितियाँ अधिनियम, 1935 की धारा 40 केवल पंजीयक को अधिभार कार्यवाहियाँ प्रारंभ करने की शक्ति प्रदान करती है। उसकी आदेश के विरुद्ध धारा 40 की उपधारा (3) के अंतर्गत राज्य सरकार के समक्ष अपील का प्रावधान है। वस्तुतः, यह स्वीकार किया गया है कि सहकारी समितियों के उप-पंजीयक ने 31-12-1975 को उत्तरदाता सं 3 के विरुद्ध अधिभार की सूचनाएँ जारी की थीं, जब स्वयं उत्तरदाता सं 2 मुख्यमंत्री थे। यदि मुख्यमंत्री ने यह पाया कि उनका प्रथम आदेश विधि द्वारा अपेक्षित नहीं था, तो उनके द्वारा अपने प्रथम आदेश को निरस्त करना उचित ही था।

(ii) द्वितीय विचार पर कोई भी प्राधिकारी सद्भावपूर्वक अपना मत परिवर्तित कर सकता है और यह निर्णय कर सकता है कि बैंक की सामान्य स्थिति की पुनर्स्थापना हेतु वार्षिक आम बैठक आहूत करना तथा निर्वाचन कराना पहले किया जाना चाहिए और ऋणों की वसूली तथा अधिभार कार्यवाहियाँ बाद में। अंतिम भाग का निर्देश देने वाले आदेश को सद्भावपूर्वक काट देना, उत्तरदाता सं 2 द्वारा किसी अपराध का गठन नहीं करता। किसी अन्य

आदेश को समाहित करने वाले कागज़ के टुकड़े से आदेश को चिपकाना *प्रथम दृष्टया* संदिग्ध प्रतीत होता है, किंतु हमारे समक्ष प्रस्तुत की गई फाइल से यह प्रकट हुआ है कि मुख्यमंत्री सचिवालय में चिपकाने की प्रथा सामान्य है।

(iii) मात्र पूर्वदिनांकित करना अपने आप में कोई अपराध नहीं है। श्री वेणुगोपाल ने पूर्वदिनांकित करने के संभावित उद्देश्य पर तर्क प्रस्तुत किया और यह निवेदन किया कि उद्देश्य प्रथम आदेश पर किसी भी संभावित कार्रवाई को समाप्त करना था। यह प्रस्तुति अत्यधिक अनुमानात्मक है और स्वीकार्य नहीं है।

किसी भी दृष्टि से, यदि दो व्याख्याएँ संभव हों, एक आपराधिक आशय का संकेत देने वाली और दूसरी निर्दोष—तो यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अभियुक्त के लिए लाभकारी व्याख्या को स्वीकार किया जाना चाहिए।

30. *हैदरी का स्वीकृतिमूलक कथन*

जैसा कि ऊपर कहा गया है, बैंक के अधिकारियों से संबंधित एक अन्य निगरानी मामला था, जिसे कदम कुआँ थाना कांड सं 97 (5) 77 के नाम से जाना जाता था। इसकी जाँच सहकारी विभाग के अधिकारियों द्वारा की जा रही थी, किंतु 16-1-1978 को इसे आकस्मिक रूप से निगरानी विभाग को स्थानांतरित कर दिया गया। इस मामले में उपर्युक्त हैदरी अभियुक्तों में से एक था। वह वर्तमान मामले में भी अभियुक्तों में से एक था, किंतु बाद में क्षमा प्रदान किए जाने पर वह स्वीकृतकर्ता बन गया और अभियोजन साक्षी हो गया। उसे 4-8-1976 को उत्तरदाता सं 2 द्वारा पारित आदेशों के आधार पर कई अन्य मामलों में भी अभियोजित किया जा रहा था। कदम कुआँ मामले में, हैदरी ने 4-11-1976 को एक स्वीकृतिमूलक कथन दिया था, किंतु उसमें उत्तरदाता सं 2 को संलिप्त नहीं किया था। उसे 22-1-1978 को पुनः गिरफ्तार किया गया, जिसके पश्चात् उसने 24-1-1978 को दूसरा स्वीकृतिमूलक कथन दिया, और इस बार उसने पहली बार उत्तरदाता सं 2 को कथित अपराध के लिए संलिप्त किया, जो कथित रूप से 1973-75 के वर्षों में किया गया बताया गया। चूँकि

कदम कुआँ मामला भी बैंक के कार्यकलापों से संबंधित था और हैदरी पहले ही एक स्वीकृतिमूलक कथन दे चुका था, इसलिए उसके लिए 24-1-1978 को दूसरा स्वीकृतिमूलक कथन देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि उस तिथि को निगरानी थाना कांड सं 9 (2) 78 अभी तक दर्ज नहीं हुआ था और हैदरी इस मामले में अभियुक्त नहीं था, और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जिस स्वीकृतिमूलक कथन पर अपीलकर्ता द्वारा अत्यधिक भरोसा किया गया है, वह किसी अभियुक्त द्वारा दिया गया स्वीकृतिमूलक कथन था। यह मामला 1-2-1978 की प्रातः निगरानी पुलिस थाना में दर्ज किया गया था और, इसलिए, स्वीकृतिमूलक कथन को विधिक वैधता प्रदान करने के लिए यह दर्शाया गया कि वह कदम कुआँ थाना कांड सं 97 (5) 77 में अभिलिखित किया गया था। यह स्वीकृतिमूलक कथन उसी कदम कुआँ मामले में हैदरी का दूसरा स्वीकृतिमूलक कथन बताया गया है। अतः हैदरी का तथाकथित स्वीकृतिमूलक कथन न केवल सह-अभियुक्त का स्वीकृतिमूलक कथन नहीं है, बल्कि वह किसी प्रकार का विश्वास भी उत्पन्न नहीं करता। इसके अतिरिक्त, वह एक सहभागी का कथन था, जो स्वीकृतकर्ता बन गया था, और इसलिए वह निरर्थक है।

31. उत्तरदाताओं की यह प्रस्तुति कि उत्तरदाता सं 1 के विरुद्ध आपराधिक मामला राजनीतिक प्रतिशोध का परिणाम है, पर भी विचार किया जाना है।

(i) इस संबंध में उत्तरदाताओं द्वारा इंगित की गई प्रथम परिस्थिति वह असामान्य शीघ्रता है, जिसके साथ संचिका को आगे बढ़ाया गया। बिहार राज्य की ओर से दायर शपथपत्र में, श्री बिधु शेखर बनर्जी, उप पुलिस अधीक्षक, मंत्रिमंडल निगरानी विभाग, ने यह कहा है कि चार दिनों की अवधि के भीतर जाँच पूरी कर ली गई, परामर्श प्राप्त कर लिया गया और मामला संस्थित करने के लिए आदेश पारित कर दिए गए, जैसा कि निम्नानुसार है:

"(i) कदमकुआँ थाना कांड सं 97 (5) 77 को तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री कर्पूरी ठाकुर द्वारा पारित 9-1-1978 के आदेश से निगरानी विभाग को स्थानांतरित किया गया।

(ii) श्री एम. ए. हैदरी, जिनके विरुद्ध अगस्त, 1976 में डॉ. मिश्रा द्वारा पारित आदेशों के आधार पर अन्य मामलों में अभियोजन चल रहा था, तथा श्री ए. के. सिंह, जो एक अधीनस्थ लिपिक तथा श्री एम. ए. हैदरी के नियुक्त व्यक्ति थे, की स्वीकृतियाँ पुनः गिरफ्तारी के पश्चात् वर्तमान मामले में क्रमशः 22-1-78 और 26-1-78 को अभिलिखित की गईं।

(iii) जाँच प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया।

(iv) प्रतिवेदन पुलिस के पुलिस उप महानिरीक्षक द्वारा पुलिस महानिरीक्षक को अग्रेषित किया गया।

(v) वही संचिका मुख्य सचिव को अग्रेषित की गई।

(vi) मुख्य सचिव ने संचिका को महाधिवक्ता को अग्रेषित किया।

(vii) महाधिवक्ता ने संचिका मुख्य सचिव को वापस कर दी।

(viii) मुख्य सचिव ने संचिका मुख्यमंत्री (श्री कर्पूरी ठाकुर) को भेजी।

(ix) मुख्यमंत्री ने डॉ. मिश्रा के अभियोजन का आदेश पारित किया।

(x) मामला दर्ज किया गया।"

(ii) दूसरी परिस्थिति, जिसकी ओर संकेत किया गया है, उत्तरदाता सं 2 और श्री कर्पूरी ठाकुर के बीच की राजनीतिक कटुता है। प्रारंभ में वर्णित तथ्यों से यह प्रतीत होता है कि एक ओर अपीलकर्ता तथा जनता सरकार के पूर्व मुख्यमंत्री श्री कर्पूरी ठाकुर और दूसरी ओर उत्तरदाता सं 2 डॉ. मिश्रा, जो बिहार के वर्तमान कांग्रेस (आई) के मुख्यमंत्री हैं, के बीच वैमनस्य विद्यमान था।

यह कहा गया है कि उत्तरदाता सं 2 कांग्रेस पार्टी के प्रमुख नेताओं में से एक हैं, जो मामले की स्थापना के समय श्री कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व वाली जनता पार्टी सरकार के राजनीतिक रूप से विरोध में थी। सन् 1977 में, जब उत्तरदाता सं 2 कांग्रेस सरकार का नेतृत्व कर रहे थे, तब श्री कर्पूरी ठाकुर की गिरफ्तारी और निरोध के लिए, उनकी कथित सरकार-विरोधी गतिविधियों के कारण, गिरफ्तारी का वारंट जारी किया गया था और कर्पूरी ठाकुर लंबे समय तक फरार रहे थे। यह भी संकेत किया गया है कि श्री कर्पूरी ठाकुर उत्तरदाता सं 2 के विरुद्ध रंजिश पाले हुए थे। यह संकेत कुछ आधारयुक्त प्रतीत होता है।श्री डी. पी. ओझा बिहार में पुलिस अधीक्षक थे। उत्तरदाता सं 4 द्वारा दायर प्रत्युत्तर-शपथपत्र में यह कहा गया है कि उन्हें (ओझा को) न्यायमूर्ति मैथ्यू ने अपनी 9-5-1975 को प्रस्तुत प्रतिवेदन में, उत्तरदाता सं 5 के भाई श्री एल. एन. मिश्रा की हत्या से संबंधित मामले में, दोषारोपित किया था। न्यायमूर्ति मैथ्यू ने अपने प्रतिवेदन में यह अभिनिर्धारित किया—

> "केंद्रीय सरकार द्वारा 13-9-1971 को जारी सुरक्षा निर्देशों के अंतर्गत सुरक्षा व्यवस्था करने की प्रत्यक्ष जिम्मेदारी पुलिस प्रमुख (श्री डी. पी. ओझा) पर निहित होती है। आयोग यह पाता है कि समस्तीपुर के पुलिस अधीक्षक केंद्रीय सरकार द्वारा 13-9-1971 को जारी निर्देशों के अंतर्गत उन पर आरोपित कर्तव्य का निर्वहन करने में असफल रहे। इस संबंध में समस्तीपुर के पुलिस अधीक्षक कर्तव्य-उपेक्षा के दोषी थे। वे अधिकारी जिन्होंने अपने कर्तव्य का निर्वहन

> करने में विफलता दिखाई या उसके निर्वहन में लापरवाही बरती, वे राज्य सरकार के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी हो सकते हैं और राज्य सरकार उनके विरुद्ध उपयुक्त कार्रवाई करने के लिए अभिकरण होगी।"

यह शपथपत्र में कहा गया है कि केंद्र में जनता सरकार ने मैथ्यू आयोग के उक्त निष्कर्षों को स्वीकार कर लिया था। किंतु श्री कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व वाली बिहार सरकार ने न केवल श्री डी. पी. ओझा को दोषमुक्त किया, बल्कि उन्हें निगरानी विभाग में स्थानांतरित कर दिया और पटना सहकारी बैंक (प्रश्नगत बैंक) से संबंधित सभी मामले श्री ओझा के प्रभार वाले निगरानी विभाग को सौंप दिए गए। उत्तरदाताओं के आरोप हैं कि न केवल मुख्यमंत्री श्री कर्पूरी ठाकुर की डॉ. मिश्रा के प्रति अपनी राजनीतिक शत्रुता थी, बल्कि श्री ओझा को भी मुख्यमंत्री के प्रभाव में कार्य करना पड़ा। यह सुझाव दिया गया है कि उन्होंने जाँच को इस प्रकार निर्देशित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई कि डॉ. मिश्रा एवं अन्य के विरुद्ध झूठे साक्ष्य एकत्र कर एक मामला बना दिया गया। इस सुझाव को तुच्छ या अविवेकपूर्ण कहकर खारिज नहीं किया जा सकता। श्री कर्पूरी ठाकुर, तत्कालीन मुख्यमंत्री, ने तत्कालीन केंद्रीय गृह मंत्री चौधरी चरण सिंह के इस सार्थक सुझाव की उपेक्षा की कि 1964 की आचार संहिता के अनुसार किसी पूर्व मुख्यमंत्री के विरुद्ध कार्यवाही प्रधानमंत्री की स्वीकृति प्राप्त करने के बाद ही की जा सकती है। उन्होंने इस संबंध में श्री डी. एन. सहाय के सुझाव की भी उपेक्षा की कि किसी पूर्व मुख्यमंत्री के विरुद्ध आगे बढ़ने से पहले प्रधानमंत्री और गृह मंत्री से स्वीकृति आवश्यक है। उन्होंने श्री डी. एन. सहाय के इस सुझाव की भी अनदेखी की कि बैंक प्रकरण में पहले से ही एक जाँच आयोग कार्यरत है, इसलिए किसी निगरानी जाँच की आवश्यकता नहीं है, और इसके बावजूद जाँच का निर्देश दिया। इससे उत्तरदाता सं 2 के अभियोजन में श्री कर्पूरी ठाकुर की सक्रिय रुचि प्रकट होती है।

(iii) तीसरी परिस्थिति, जिसकी ओर संकेत किया गया है, यह है कि यद्यपि उत्तरदाता सं 4 को अभियुक्त बनाया गया है, उसके विरुद्ध कोई आरोप निर्दिष्ट नहीं किया गया है।

32. यह सामान्य सिद्धांत है कि अभियोजन को अभियुक्त का दोष संदेह से परे सिद्ध करना होता है और अभियुक्त को, यदि कोई हो, अपनी रक्षा को संदेह से परे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। यदि रक्षा संभाव्य और युक्तिसंगत है, और उसके विचार से अभियोजन के मामले की विश्वसनीयता पर संदेह उत्पन्न होता है, तो अभियुक्त को उसका लाभ मिलेगा और उसे दोषमुक्त किया जाना होगा। वर्तमान मामले में, जैसा कि हमने अवलोकन किया है, संपूर्ण जाँच दूषित हो चुकी है और ऐसी जाँच से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर किसी व्यक्ति को दोषसिद्ध नहीं किया जा सकता।

33. निम्नलिखित परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है, जब यह विचार किया जा रहा है कि क्या मामले को अपीलकर्ता द्वारा प्रस्तावित अनुसार परीक्षण के लिए विशेष न्यायाधीश के पास वापस भेजा जाना उचित है, यह मानते हुए और केवल यह मानते हुए कि परीक्षण के लिए प्रथमदृष्टया मामला विद्यमान है—

(i) घटना सन् 1970 में घटित हुई थी; अब बारह वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो चुका है।

(ii) उत्तरदाता सं 2 अपने पद पर मुख्यमंत्री हैं। मानव स्वभाव को देखते हुए, यह शायद ही अपेक्षित किया जा सकता है कि साक्षी, जिनमें से अधिकांश अधिकारी हैं, आगे आकर किसी मुख्यमंत्री के विरुद्ध साक्ष्य देंगे।

(iii) उत्तरदाता सं 2 द्वारा मुख्यमंत्री पद ग्रहण किए जाने के बाद भी, विशेष न्यायाधीश के न्यायालय में अभियोजन कई तिथियों पर लंबित रहा, किंतु लोक अभियोजक श्री ए. के. दत्ता ने मामले में कोई रुचि नहीं दिखाई। यह अपेक्षित नहीं किया जा सकता कि सत्तारूढ़ सरकार द्वारा नियुक्त कोई लोक अभियोजक अब इस प्रकार रुचि लेकर मामले का संचालन करेगा कि अपने ही मुख्यमंत्री की दोषसिद्धि सुनिश्चित कर सके। यदि परीक्षण हेतु प्रतिप्रेषण किया भी जाए, तो वह केवल निष्फल अभ्यास मात्र होगा; और मामले को पुनः

परीक्षण न्यायालय को भेजना न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा।

34. उपर्युक्त समस्त विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप, अपील खारिज की जाती है।

मिश्रा, न्यायमूर्ति— मुझे भ्रातृ न्यायमूर्ति तुलज़ापुरकर और बहारुल इस्लाम, न्यायमूर्तिगण द्वारा दिए गए भिन्न निर्णयों का अवलोकन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यद्यपि मैं भ्रातृ न्यायमूर्ति तुलज़ापुरकर द्वारा दिए गए कुछ निष्कर्षों से ससम्मान सहमत हूँ, तथापि कुछ निष्कर्षों से सहमति व्यक्त करने में असमर्थ हूँ। अतः मैं इस संबंध में अपने पृथक कारण प्रस्तुत करना प्रस्तावित करता हूँ।

वर्तमान विशेष अनुमति से दायर अपील, लोक अभियोजक द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अंतर्गत न्यायालय से अभियोजन वापसी की अनुमति हेतु किए गए आवेदन का परिणाम है, जो बिहार राज्य द्वारा निगरानी थाना कांड सं 9 (2) 78 में उत्तरदाता सं 2 डॉ. जगन्नाथ मिश्रा, उत्तरदाता सं 3 (नवल किशोर सिन्हा), उत्तरदाता सं 4 (जीवानंद झा) तथा तीन अन्य (के. पी. गुप्ता—अब दिवंगत, एम. ए. हैदरी और ए. के. सिंह), जो बाद में अनुमोदक बने, के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धाराओं 420/466/471/109/120-बी तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5 (1) (क), 5 (1) (ख) एवं 5 (1) (घ) के अंतर्गत दायर किया गया था। महत्वपूर्ण तथ्य पहले ही दोनों निर्णयों में विस्तार से वर्णित किए जा चुके हैं, अतः उन्हें पुनः दोहराने का कोई औचित्य नहीं है।

पक्षकारों के अधिवक्ताओं द्वारा उठाए गए तर्कों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि आवेदन में लिए गए आधारों को पढ़ा जाए। आवेदन का अनुच्छेद 2 इस प्रकार है :

> "चूँकि इस मामले का अभियोजन सरकार की अत्यंत महत्वपूर्ण लोक-नीति के प्रश्नों से संबंधित है, जिसके व्यापक परिणाम हो सकते हैं और जो व्यापक लोक-हित के मुद्दे को भी प्रभावित कर सकते हैं, इसलिए अभियोजन की निरंतरता की उपयुक्तता पर राज्य

सरकार द्वारा तथा मेरे द्वारा भी व्यापक रूप से विचार किया गया। साक्ष्यों के आलोक में अभियोजन की सफलता की संभावना के अभाव, व्यक्तियों की संलिप्तता के राजनीतिक एवं व्यक्तिगत प्रतिशोध के परिणामस्वरूप होने, राज्य तथा लोक-नीति के कारणों से अभियोजन की अनुपयुक्तता, तथा परिवर्तित परिस्थितियों के आलोक में अभियोजन की निरंतरता से लोक-हित पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभावों को दृष्टिगत रखते हुए, तथा गहन चिंतन एवं पूर्ण विचार-विमर्श के पश्चात्, मैं उपर्युक्त मामले में सम्मिलित सभी व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन से वापसी हेतु यह आवेदन प्रस्तुत करने की प्रार्थना करता हूँ।"

आवेदन का अनुच्छेद 3 इस प्रकार है—

"अतः मैंने कांड दैनंदिनी तथा मामले से संबंधित प्रासंगिक सामग्री का अवलोकन किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मामले की स्थापना के समय तथा उसकी जाँच के दौरान विद्यमान परिस्थितियों में, यह प्रतीत होता है कि यह मामला राजनीतिक प्रतिशोध के आधार पर तथा केवल डॉ. जे. एन. मिश्रा की निष्पक्ष छवि को धूमिल करने के लिए स्थापित किया गया था, जो उस समय विपक्ष के नेता तथा देश में कांग्रेस पार्टी के मान्य नेताओं में से एक थे। अभियोजन लोक-न्याय के हित को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से आरंभ नहीं किया गया था।"

अनुच्छेद 4 इस प्रकार है—

"यह लोक-हित में है कि ऐसा अभियोजन, जिसकी सफलता की कोई युक्तिसंगत संभावना नहीं है और जिसे लोक-न्याय के उद्देश्य

की उन्नति से असंबद्ध राजनीतिक प्रतिशोध के परिणामस्वरूप आरंभ किया गया है, आगे न बढ़ाया जाए। विशेष रूप से इसलिए भी कि यह कार्यपालिका के प्रमुख के विरुद्ध निर्देशित है, जिन पर न केवल मतदाताओं ने अपना विश्वास और भरोसा रखा है, बल्कि जिन्हें विधानमंडल में बहुमत दल का नेता भी चुना गया है; ये दोनों घटनाएँ मामले की स्थापना के बाद घटित हुई हैं।"

इस आवेदन का अपीलकर्ता द्वारा विभिन्न आधारों पर विरोध किया गया, जिन पर मैं निर्णय के उत्तरार्द्ध भाग में विस्तार से विचार करूँगा।

हालाँकि, यह आवेदन मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी-सह-विशेष न्यायाधीश (निगरानी) द्वारा स्वीकार कर लिया गया और उन्होंने 20 जून, 1981 के अपने कारणयुक्त आदेश द्वारा अपनी सहमति प्रदान की।

अपीलकर्ता ने इस विषय को पुनरीक्षण में उच्च न्यायालय के समक्ष उठाया, जिसने भी परीक्षण न्यायालय के आदेश की पुष्टि की। अब अपीलकर्ता विशेष अनुमति द्वारा इस न्यायालय के समक्ष आया है। अपीलकर्ता की ओर से लिए गए आधार चार प्रकार के हैं—

1. (क)दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के प्रयोजनों के लिए राजनीतिक अपराधों और सामान्य विधि के अधीन अपराधों के बीच एक द्वैत विद्यमान है। जहाँ पूर्ववर्ती को लोक-नीति, लोक-हित या राज्य के कारणों के आधार पर, दोषसिद्धि की निश्चितता होते हुए भी, वापस लिया जा सकता है, वहीं सामान्य विधि के अपराध या रिश्वतखोरी अथवा कूटरचना के सामान्य मामले में लोक-नीति, लोक-हित या राज्य के कारणों का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं हो सकता।

(ख)इसी प्रकार, ऐसे मामले में जहाँ अपराध का प्रमाण मुख्यतः दस्तावेजों पर आधारित हो, जिनकी प्रामाणिकता विवादित न हो, राजनीतिक या व्यक्तिगत प्रतिशोध का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः अभियोजन से वापसी के जिन तीन आधारों पर—अर्थात् लोक-नीति, लोक-हित, राज्य के कारण, तथा सार्वजनिक या व्यक्तिगत प्रतिशोध—आधारित किया गया है, वे अप्रासंगिक आधार हैं, यदि यह स्थापित हो कि भा.दं.सं. की धारा 466 तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5(1)(घ) के अंतर्गत अपराध, जो मुख्यतः निर्विवाद दस्तावेजी साक्ष्य पर आधारित हैं, प्रथमदृष्टया मामला बनाते हैं।

2. यदि न्यायालय साक्ष्य की न्यूनता या सफल अभियोजन के अभाव के आधार पर किसी आपराधिक मामले की वापसी हेतु सहमति देना चुनता है, तो न्यायालय को पहले से अभिलेख पर उपलब्ध सामग्री या साक्ष्य की जाँच करनी होती है, ताकि यह निर्णय किया जा सके कि अभियोजन से वापसी न्याय के सामान्य प्रवाह का दुरुपयोग है या उसमें हस्तक्षेप करती है।

3. जिस लोक अभियोजक ने मामले से वापसी हेतु आवेदन किया था, वह सक्षम नहीं था, क्योंकि वह मामले का प्रभारी नहीं था, और किसी भी स्थिति में उसने सरकार के इशारे पर कार्य किया तथा अपने स्वतंत्र मन का प्रयोग नहीं किया।

4. अभिलेख पर उपलब्ध दस्तावेजी साक्ष्य प्रथमदृष्टया कूटरचना (भा.दं.सं. की धारा 466) तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5(1)(घ) (आपराधिक दुराचार) का मामला बनाते हैं।

अपीलकर्ता की ओर से उठाए गए बिंदुओं पर विचार करने से पूर्व, इस चरण पर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 की प्रकृति और परिधि को जानना उपयुक्त है।

इस धारा का साधारण अवलोकन यह दर्शाता है कि यह न तो कोई आधार निर्धारित करती है और न ही किसी विशिष्ट आपराधिक मामले, जो किसी भी न्यायालय में लंबित हो, के अभियोजन से वापसी करने की लोक अभियोजक की शक्ति पर कोई निषेध या बंधन लगाती है। यह केवल यह अपेक्षा करती है कि वह ऐसा केवल उस न्यायालय की सहमति से कर सकता है, जहाँ मामला लंबित है। तथापि, इस न्यायालय ने इस धारा के अंतर्गत लोक अभियोजक द्वारा अभियोजन से वापसी की शक्ति के प्रयोग तथा न्यायालय द्वारा ऐसी वापसी हेतु सहमति प्रदान करने के संबंध में कुछ मार्गदर्शक सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं। इन्हीं मार्गदर्शक सिद्धांतों के आलोक में आपराधिक कार्यवाही से वापसी की औचित्यपूर्णता या वैधता का परीक्षण किया जाना होता है।

इस देश में आपराधिक न्याय की व्यवस्था गंभीर अपराधों के अभियोजन की मुख्य जिम्मेदारी कार्यपालिका प्राधिकरण पर रखती है। जाँच, आवश्यक साक्ष्य का संकलन तथा ऐसे साक्ष्य के संदर्भ में अपराधों का अभियोजन कार्यपालिका के कार्य हैं। इस संदर्भ में न्यायालय की भूमिका सीमित है और केवल दुरुपयोग को रोकने के लिए अभिप्रेत है। तथापि, अभियोजन से वापसी हेतु सहमति प्रदान करने में न्यायालय का कार्य न्यायिक कार्य है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि जिस न्यायालय के समक्ष लोक अभियोजक द्वारा वापसी का आवेदन प्रस्तुत किया गया है, वह अपने मन का प्रयोग करे, ताकि अपीलीय न्यायालय यह परीक्षण कर सके और संतुष्ट हो सके कि न्यायालय ने यांत्रिक रूप से सहमति प्रदान नहीं की है, बल्कि लोक अभियोजक द्वारा वापसी के आवेदन में लिए गए आधारों पर अपने मन का प्रयोग किया है।

इस न्यायालय के विभिन्न निर्णयों द्वारा प्रतिपादित मार्गदर्शक सिद्धांतों का अब संदर्भ लिया जा सकता है। *बिहार राज्य बनाम राम नरेश पांडेय*[15] में, इस न्यायालय को असंशोधित संहिता की समतुल्य धारा 494 की परिधि पर विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ, जो वर्तमान धारा 321 के समान विषय-वस्तु वाली थी, और इस न्यायालय ने निम्नलिखित अवलोकन किया—

> "इन मामलों में दंडाधिकारी के कार्य केवल कार्यपालिका के कार्यों के पूरक ही नहीं हैं, बल्कि उच्च स्तर पर हैं और दुरुपयोग को रोकने के उद्देश्य से अभिप्रेत हैं। लोक अभियोजक द्वारा अभियोजन से वापसी के लिए न्यायालय की सहमति की अपेक्षा करने वाली धारा 494, न्यायालय द्वारा जाँच और परीक्षण से संबंधित संहिता के प्रावधानों की अपेक्षा, इस योजना के अधिक अनुरूप है। इसे इस रूप में नहीं लिया जा सकता कि यह न्यायालय पर किसी प्रथमदृष्टया विचारणीय मुद्दे के निर्धारण का दायित्व आरोपित करती है; उदाहरणार्थ, उससे उत्पन्न विमुक्ति सदैव धाराओं 209(1) और 253(1) के अंतर्गत 'प्रथमदृष्टया मामला नहीं' के मानदंड या धाराओं 209(2) और 253(2) के अंतर्गत 'निराधारता' के मानदंड के अनुरूप होना आवश्यक नहीं है।
>
> "...सहमति प्रदान करने में दंडाधिकारी का कार्य एक न्यायिक कार्य है, जो सुधार के लिए खुला है... सहमति हेतु आवेदन लोक अभियोजक द्वारा ऐसे कारणों से भी विधिसम्मत रूप से किया जा सकता है, जो केवल अभियोजन की न्यायिक संभावनाओं तक सीमित न हों... यदि ऐसा है, तो यह स्पष्ट है कि सहमति प्रदान करने या उसे रोके रखने के लिए अपने विवेक के प्रयोग में न्यायालय को

---

15 [1972] 2 एस.सी.आर. 599

जिस बात का निर्धारण करना होता है, वह न्यायिक साक्ष्य पर आधारित कोई विचारणीय मुद्दा नहीं है।"

पुनः, *एम. एन. एस. नायर बनाम पी. वी. बालकृष्णन*[16] में, इस न्यायालय ने विभिन्न उच्च न्यायालयों के अनेक मामलों की समीक्षा करने के पश्चात् निम्नलिखित मार्गदर्शक सिद्धांत प्रतिपादित किए—

"यद्यपि यह धारा सामान्य शब्दों में है और अभियोजन से वापसी हेतु अनुमति माँगने के लिए लोक अभियोजक की शक्तियों को परिसीमित नहीं करती, तथापि इस शक्ति के प्रदान किए जाने में निहित मूल विचार यह है कि वह न्याय के प्रशासन के हित में हो; जो या तो यह हो सकता है कि आरोप को बनाए रखने के लिए पर्याप्त साक्ष्य प्रस्तुत किया जाना संभव न हो, अथवा अभियोजन अभिकरण के समक्ष उपलब्ध पश्चातवर्ती जानकारी अभियोजन के साक्ष्य को असत्य सिद्ध कर दे, *अथवा ऐसी ही अन्य समान परिस्थितियाँ हों, जिनका पूर्वानुमान करना कठिन है, क्योंकि वे पूर्णतः प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करती* हैं। तथापि, न्याय के हित को आगे बढ़ाने के लिए न्यायालय का यह भी कर्तव्य है कि वह यह सुनिश्चित करे कि अनुमति ऐसे *आधारों पर न माँगी गई हो जो न्याय के हित से परे हों, अथवा ऐसे अपराध, जो राज्य के विरुद्ध अपराध हैं, केवल इसलिए दंडविहीन न रह जाएँ कि सरकार, विधि के अधीन अपराधियों के अभियोजन के अपने कर्तव्य से असंबद्ध, सामान्य नीति के रूप में सुविधा-जन्य कारणों* से लोक अभियोजक को

---

16 [1977] 2 एस.सी.आर. 599

अभियोजन से वापसी का निर्देश दे दे और लोक अभियोजक मात्र उसके कहने पर ऐसा कर दे।"

"हमें यह प्रतीत होता है कि धारा 494 के अंतर्गत लोक अभियोजक को अभियोजन से वापसी हेतु जो व्यापक और सामान्य शक्तियाँ प्रदान की गई हैं, यद्यपि वे न्यायालय की अनुमति के अधीन हैं, *तथापि उनका प्रयोग उसके द्वारा उस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के संदर्भ में, विधि के उद्देश्य की बाधा के रूप में नहीं बल्कि उसके संवर्धन में, किया जाना चाहिए और मामले में उपलब्ध सामग्री द्वारा औचित्यपूर्ण ठहराया जाना चाहिए, जो आरोपित आधारों का समर्थन करती हो—आवश्यक नहीं कि वे केवल न्यायिक विधि द्वारा आरोपित सामग्री से ही हों, बल्कि अन्य ऐसी सामग्री से भी हो सकती हैं जो कड़ाई से विधिक या ग्राह्य साक्ष्य न हों*। न्यायालय को भी उक्त धारा के अंतर्गत अनुमति प्रदान करने के अनुरोध पर विचार करते समय इसे मात्र एक औपचारिकता के रूप में—सिर्फ माँगे जाने पर—प्रदान नहीं करना चाहिए। वह ऐसा केवल तभी कर सकता है जब उसके समक्ष प्रस्तुत सामग्री से वह संतुष्ट हो कि ऐसी अनुमति न्याय के प्रशासन की सेवा करती है और यह कि अनुमति किसी गुप्त उद्देश्य से, विधि के प्रतिपादन से असंबद्ध किसी अंतर्निहित प्रयोजन के लिए नहीं माँगी जा रही है, जिसे कार्यपालिका अंगों का कर्तव्य है कि वे आगे बढ़ाएँ और बनाए रखें।"

(जोर दिया गया)

इसी सिद्धांत को पुनः *ओडिशा राज्य बनाम सी. मोहापात्रा*[17] में निम्न शब्दों में दोहराया गया—

> "अंतिम और मार्गदर्शक विचार सदैव न्याय के प्रशासन का हित ही होना चाहिए और वही कसौटी है जिस पर इस प्रश्न का निर्धारण किया जाना चाहिए। कोई कठोर और अपरिवर्तनीय नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता और न ही ऐसे मामलों की कोई श्रेणियाँ परिभाषित की जा सकती हैं जिनमें सहमति प्रदान की जानी चाहिए या अस्वीकार की जानी चाहिए। अंततः यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करेगा, इस बात के आलोक में कि न्याय के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए क्या आवश्यक है, क्योंकि प्रत्येक न्यायिक प्रक्रिया का उद्देश्य न्याय की प्राप्ति ही होना चाहिए।"
>
> (जोर दिया गया)

बलवंत सिंह बनाम बिहार राज्य[18] में इस न्यायालय ने यह प्रतिपादित किया—

> "अभियोजन से वापसी के संबंध में निर्णय लेने की वैधानिक जिम्मेदारी पूर्णतः लोक अभियोजक में निहित है। यह अविनिमेय है और इसे प्रशासनिक पक्ष पर उससे ऊपर के किसी व्यक्ति के पक्ष में त्यागा नहीं जा सकता। उसके समक्ष जो विचार प्रमुख होना चाहिए वह यह है कि अभियोजन से वापसी या उसकी निरंतरता से व्यापक लोक-न्याय का उद्देश्य आगे बढ़ेगा या बाधित होगा।"

17 [1977] 2 एस.सी.आर. 355

18 [1978] 1 एस.सी.आर. 604

इस श्रृंखला में अंतिम मामला *राजेंद्र कुमार जैन बनाम राज्य*[19] का है। इस न्यायालय के विभिन्न मामलों की समीक्षा के पश्चात्, न्यायालय ने निम्नलिखित प्रतिज्ञापन प्रतिपादित किए—

> "1. दंड प्रक्रिया संहिता की योजना के अंतर्गत किसी गंभीर अपराध के लिए अपराधी का अभियोजन मुख्यतः कार्यपालिका की जिम्मेदारी है।
>
> 2. अभियोजन से प्रत्याहरण लोक अभियोजक का कार्यपालिका-गत कार्य है।
>
> 3. अभियोजन से प्रत्याहरण का विवेक लोक अभियोजक का है और किसी अन्य का नहीं; अतः वह उस विवेक को किसी अन्य को समर्पित नहीं कर सकता।
>
> 4. सरकार लोक अभियोजक को यह सुझाव दे सकती है कि वह अभियोजन से वापसी करे, किंतु कोई भी उसे ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता।
>
> 5. लोक अभियोजक अभियोजन से प्रत्याहरण केवल साक्ष्य की न्यूनता के आधार पर ही नहीं, बल्कि व्यापक लोक-न्याय, लोक-व्यवस्था और शांति के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए अन्य प्रासंगिक आधारों पर भी कर सकता है। लोक-न्याय के व्यापक उद्देश्य में निश्चय ही उपयुक्त सामाजिक, आर्थिक तथा—हम जोड़ते हैं—राजनीतिक प्रयोजन सम्मिलित होंगे, टैमनी हॉल उद्यम से रहित।

19 [1980] 3 एस.सी.आर. 982

6. लोक अभियोजक न्यायालय का अधिकारी होता है और न्यायालय के प्रति उत्तरदायी होता है।

7. न्यायालय प्रत्याहरण हेतु अपनी सहमति प्रदान करने में पर्यवेक्षात्मक कार्य करता है।

8. न्यायालय का कर्तव्य यह नहीं है कि वह उन आधारों का पुनर्मूल्यांकन करे जिनके कारण लोक अभियोजक ने अभियोजन से प्रत्याहरण का अनुरोध किया, बल्कि यह विचार करना है कि क्या लोक अभियोजक ने अप्रासंगिक तथा बाह्य विचारों से अप्रभावित रहते हुए, एक स्वतंत्र अभिकर्ता के रूप में, अपने मन का प्रयोग किया है। इस संबंध में न्यायालय का एक विशेष कर्तव्य है, क्योंकि अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु सहमति प्रदान करने या उसे रोके रखने में विधायिका के विश्वास का अंतिम भंडार वही है।"

उपर्युक्त मामलों में प्रतिपादित सिद्धांतों के आलोक में, मुझे यह परीक्षण करना है कि अपीलकर्ता द्वारा लिए गए आधार कितने ग्राह्य हैं।

मैं अपीलकर्ता की ओर से उठाए गए प्रथम आधार को ग्रहण करता हूँ कि दं.प्र.सं. की धारा 321 के प्रयोजनों के लिए राजनीतिक अपराधों और सामान्य विधि के अंतर्गत अपराधों के बीच एक द्विभाजन विद्यमान है, और जहाँ राजनीतिक अपराधों के मामलों में लोक नीति, लोक हित या राज्य के कारणों से—भले ही दोषसिद्धि की निश्चितता हो—प्रत्याहरण किया जा सकता है, वहीं सामान्य विधि के अपराधों या रिश्वतखोरी अथवा जालसाजी जैसे सामान्य मामलों में ऐसा कोई विचार कभी उत्पन्न नहीं हो सकता।

यह तर्क इस मान्यता पर आधारित है कि उपर्युक्त उद्धृत मामलों में अनुमति केवल राजनीतिक अपराधों से संबंधित मामलों में ही प्रदान की गई थी और सामान्य विधि के

अंतर्गत अपराधों के संबंध में नहीं। मुझे भय है कि यह उपर्युक्त निर्णयों का उचित पाठ नहीं होगा। उपर्युक्त मामलों में प्रतिपादित सिद्धांतों में से एक यह है कि लोक अभियोजक अभियोजन से प्रत्याहरण केवल साक्ष्य की न्यूनता के आधार पर ही नहीं, बल्कि व्यापक न्याय, लोक-न्याय तथा शांति के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए अन्य प्रासंगिक आधारों पर भी कर सकता है। लोक-न्याय के व्यापक उद्देश्य में निश्चय ही उपयुक्त सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक प्रयोजन सम्मिलित होंगे। *एम. एन. एस. नायर* के मामले (उपर्युक्त) में इस न्यायालय ने कुछ आधारों का उल्लेख करने के पश्चात् आगे यह अवलोकन किया—

> " ... ऐसी अन्य समान परिस्थितियाँ भी, जिनका पूर्वानुमान करना कठिन है, क्योंकि वे पूर्णतः प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं।"

इसी प्रकार सी. मोहोपात्रा के मामले (उपर्युक्त) में इस न्यायालय ने पुनः यह अवलोकन किया:

> "कोई कठोर और अपरिवर्तनीय नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता और न ही ऐसे मामलों की कोई श्रेणियाँ परिभाषित की जा सकती हैं जिनमें सहमति प्रदान की जानी चाहिए या अस्वीकार की जानी चाहिए।"

इन अवलोकनों के आलोक में यह स्वीकार करना कठिन होगा कि अभियोजन से प्रत्याहरण केवल राजनीतिक अपराधों में ही अनुमत हो सकता है और सामान्य विधि के अपराधों में नहीं। अतीत में ऐसे मामले रहे हैं जहाँ राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं या विचारों से प्रेरित अपराधों, अथवा व्यापक आंदोलनों, साम्प्रदायिक उन्माद, क्षेत्रीय विवादों, औद्योगिक संघर्षों, छात्र अशांति अथवा ऐसी ही भावनात्मक मुद्दों से जुड़ी परिस्थितियों में, जिनसे हिंसा से भरा वातावरण उत्पन्न हुआ, लोक-व्यवस्था और शांति के हित में प्रत्याहरण की अनुमति दी गई है। किंतु केवल इस आधार पर यह कहना सही नहीं होगा कि न्यायालय द्वारा प्रत्याहरण की

अनुमति केवल तभी दी जा सकती है जब उपर्युक्त प्रकार के अपराध सम्मिलित हों। दं.प्र.सं. की धारा 321 अत्यंत व्यापक शब्दों में है और उपर्युक्त उद्धृत निर्णयों के प्रकाश में आधारों को केवल उन अपराधों तक सीमित करना संभव नहीं है जिन्हें राजनीतिक अपराध या भावनात्मक मुद्दों से संबंधित अपराध कहा जा सकता है। अपीलकर्ता के अधिवक्ता द्वारा अपेक्षित प्रकार से इस धारा की व्याख्या करना दं.प्र.सं. की धारा 321 का पुनर्लेखन करने के समान होगा। लोक अभियोजक द्वारा प्रत्याहरण हेतु आवेदन प्रस्तुत करते समय और न्यायालय द्वारा प्रत्याहरण के लिए सहमति प्रदान करते समय एकमात्र मार्गदर्शक तत्व यह होना चाहिए कि क्या लोक-न्याय का हित आगे बढ़ाया जा रहा है और क्या प्रत्याहरण का आवेदन लोक-न्याय के उद्देश्य के प्रतिपादन से असंबद्ध किसी कपटपूर्ण उद्देश्य से प्रस्तुत नहीं किया गया है।

यदि एक बार यह स्वीकार कर लिया जाए कि अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन विभिन्न आधारों पर किया जा सकता है और वह केवल राजनीतिक अपराधों तक सीमित नहीं है, तो अपीलकर्ता की ओर से उठाया गया यह तर्क कि प्रत्याहरण के आवेदन में उल्लिखित आधार क्रमांक (ख), (ग), (घ) वर्तमान मामले में अप्रासंगिक हैं, ग्राह्य नहीं रहेगा। भारतीय दंड संहिता अथवा दंड प्रक्रिया संहिता राजनीतिक अपराधों और राजनीतिक के अतिरिक्त अपराधों के बीच ऐसा कोई भेद नहीं करती। भले ही यह स्वीकार कर लिया जाए कि विधिशास्त्र में राजनीतिक अपराध अज्ञात नहीं हैं और अन्य अधिनियम भी राजनीतिक अपराधों की परिकल्पना करते हैं, तथापि तथ्य यह है कि दं.प्र.सं. की धारा 321 केवल राजनीतिक अपराधों या सामाजिक अपराधों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सभी प्रकार के अपराधों पर लागू होती है और लोक अभियोजक द्वारा प्रत्याहरण हेतु आवेदन विभिन्न आधारों पर किया जा सकता है। लोक अभियोजक द्वारा ध्यान में रखी जाने वाली एकमात्र सावधानी यह है कि प्रत्याहरण किसी अनुचित, कपटपूर्ण अथवा परोक्ष विचार से प्रेरित न हो, और मार्गदर्शक विचार लोक-न्याय के प्रतिपादन का ही होना चाहिए।

अभियोजन से प्रत्याहरण के आवेदन में लोक अभियोजक ने चार कारण बताए हैं और उसने मामले के तथ्यों तथा परिस्थितियों पर अपना स्वतंत्र मन लगाया है। अपने आवेदन के अनुच्छेद 3 में उसने स्पष्ट रूप से कहा है कि उसने कांड दैनंदिनी तथा मामले से संबंधित प्रासंगिक सामग्री का अवलोकन किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि मामले की स्थापना के समय तथा उसकी जाँच के दौरान विद्यमान परिस्थितियों में यह प्रतीत होता है कि यह मामला राजनीतिक प्रतिशोध के आधार पर तथा केवल डॉ. जे. एन. मिश्रा की निष्पक्ष छवि को धूमिल करने के लिए स्थापित किया गया था, जो उस समय विपक्ष के नेता तथा देश में कांग्रेस पार्टी के मान्य नेताओं में से एक थे।

न्यायालय, प्रत्याहरण हेतु सहमति प्रदान करते समय, केवल यह देखता है कि लोक अभियोजक ने विधिसम्मत रूप से कार्य किया है और वह किसी कपटपूर्ण अथवा बाह्य विचार से प्रेरित नहीं हुआ है। यह न्यायालय का कार्य नहीं है कि वह साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन करे और इस प्रश्न पर अपना स्वतंत्र निष्कर्ष निकाले कि क्या न्यायालय द्वारा विचारणीय कोई मुद्दा विद्यमान है।

सबसे पहले मैं प्रत्याहरण के आवेदन के अनुच्छेद 2 में उल्लिखित आधार क्रमांक (ख) को ग्रहण करता हूँ, अर्थात् व्यक्तिगत तथा राजनीतिक प्रतिशोध के परिणामस्वरूप उत्तरदाता सं 2 की संलिप्तता। लोक अभियोजक की राय में अभियोजन व्यक्तिगत तथा राजनीतिक प्रतिशोध से प्रेरित था। उपर्युक्त आपराधिक मामला जनता पार्टी सरकार के कार्यकाल के दौरान, तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री कर्पूरी ठाकुर द्वारा 31 जनवरी 1978 को पारित आदेश के आधार पर स्थापित किया गया था, जो अपीलकर्ता शियोनंदन पासवान के दल-नेता थे, और जो स्वयं भी जनता पार्टी सरकार में राज्य मंत्री थे।

अभिलेख पर रखी गई सामग्री से यह स्पष्ट है कि उत्तरदाता सं 2 उस दल के प्रमुख नेताओं में से एक हैं, जो उस समय सत्तारूढ़ जनता पार्टी का राजनीतिक रूप से विरोधी था, जिसका नेतृत्व अभियोजन की स्थापना के प्रासंगिक समय पर श्री कर्पूरी ठाकुर कर रहे थे।

उत्तरदाता सं 2 श्री कर्पूरी ठाकुर के सिद्धांतों और नीतियों के कटु आलोचक रहे हैं। सन् 1977 में, जब उत्तरदाता सं 2 सरकार का नेतृत्व कर रहे थे, तब श्री कर्पूरी ठाकुर की गिरफ्तारी और निरोध के लिए उनके विरुद्ध गिरफ्तारी का वारंट जारी किया गया था। अपीलकर्ता, जो पूर्व में उप-दंडाधिकारी थे, उत्तरदाता सं 2 के मुख्यमंत्री सचिवालय में सहायक सचिव के रूप में पदस्थापित थे। उन्हें उत्तरदाता सं 2 द्वारा सचिवालय से हटाकर किसी अन्य विभाग में स्थानांतरित कर दिया गया। अपीलकर्ता ने अपनी नौकरी से त्यागपत्र देकर लोक दल में प्रवेश किया और लोक दल के टिकट पर चुनाव लड़ा। जब वे श्री कर्पूरी ठाकुर की मंत्रिपरिषद में राज्य मंत्री बने, तब वे पटना के बेली रोड स्थित एक बड़े सरकारी आवास में रहने लगे। सन् 1980 में, जब वह दल, जिससे उत्तरदाता सं 2 संबंधित हैं, सत्ता में आया, तब उत्तरदाता सं 2 मुख्यमंत्री बने। अपीलकर्ता राज्य मंत्री नहीं रहे और उनसे सरकारी आवास का कब्ज़ा सौंपने को कहा गया। अपीलकर्ता द्वारा आवास खाली करने से इंकार किए जाने पर राज्य सरकार ने अंततः उन्हें बेदखल करने के लिए कठोर विधिक कदम उठाया। इससे अपीलकर्ता स्वयं को आहत महसूस करने लगे। उन्होंने उच्च न्यायालय में रिट याचिका दायर कर अपने अधिकार का प्रतिपादन किया, जिसका अंततः निर्णय उनके पक्ष में हुआ। तथापि, तथ्य यह बना रहता है कि अपीलकर्ता और उत्तरदाता सं 2 के बीच कोई सौहार्द नहीं था।

जब जनता पार्टी शासनकाल में श्री कर्पूरी ठाकुर मुख्यमंत्री बने, तब उत्तरदाता सं 2 के विरुद्ध अभियोजन प्रारम्भ करने का निर्णय लिए जाने पर जिस तेजी से संचिकाएँ आगे बढ़ीं, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है। मंत्रिमंडल निगरानी विभाग के उप पुलिस अधीक्षक श्री बिधु शेखर बनर्जी द्वारा राज्य की ओर से दायर शपथपत्र से यह स्पष्ट है कि मात्र कुछ ही दिनों के भीतर जाँचें पूर्ण कर ली गईं, परामर्श प्राप्त कर लिया गया और वाद संस्थित करने के आदेश पारित कर दिए गए। 9 जनवरी 1978 को पटना अर्बन को-ऑपरेटिव बैंक से संबंधित, बिहार अपराध अन्वेषण विभाग के उप पुलिस अधीक्षकों द्वारा अन्वेषित सभी आपराधिक मामलों सहित कदमकुआँ थाना कांड सं 97(5)77, तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री कर्पूरी ठाकुर के आदेश से

निगरानी विभाग को अंतरण कर दिए गए और उन्हें निरीक्षक श्री रघुबीर सिंह के अधीन रखा गया। 22 जनवरी 1978 को कदमकुआँ थाना कांड सं 97(5)77 के अभियुक्त एम.ए. हैदरी एवं ए.के. सिन्हा को निरीक्षक श्री रघुबीर सिंह द्वारा पुनः गिरफ्तार किया गया और एम.ए. हैदरी का दूसरा स्वीकारोक्ति कथन प्राप्त किया गया, जिसमें पहली बार उसने डॉ. मिश्रा के विरुद्ध आरोप लगाए। ए.के. सिन्हा का स्वीकारोक्ति कथन 26 जनवरी 1978 को प्राप्त किया गया। 28 जनवरी 1978 को निगरानी के पुलिस अधीक्षक श्री डी.पी. ओझा ने अपनी जाँच प्रतिवेदन प्रस्तुत की, जिसमें डॉ. मिश्रा एवं अन्य के विरुद्ध आपराधिक वाद संस्थित करने की अनुशंसा की गई। 29 जनवरी 1978 को निगरानी के उप महानिरीक्षक श्री एस.बी. सहाय ने भी आपराधिक वाद संस्थित करने की अनुशंसा की। 30 जनवरी 1978 को निगरानी के महानिरीक्षक ने भी अभियोजन की अनुशंसा की। उसी दिन संचिका को महाधिवक्ता श्री के.डी. चटर्जी, जिन्हें श्री कर्पूरी ठाकुर द्वारा महाधिवक्ता नियुक्त किया गया था, के पास संदर्भित किया गया। 31 जनवरी 1978 को मुख्य सचिव ने संचिका को बिहार के मुख्यमंत्री के पास भेजा। उसी दिन बिहार के मुख्यमंत्री ने इसे स्वीकृत किया और संचिका को सीधे श्री एस.बी. सहाय, उप महानिरीक्षक, को सौंप दिया। 1 फरवरी 1978 को निगरानी के पुलिस अधीक्षक श्री डी.पी. ओझा द्वारा संचिका का अनुमोदन अतिरिक्त पुलिस अधीक्षक आर.पी. सिंह को वाद संस्थित करने हेतु किया गया। 1 फरवरी 1978 को प्रातः 0600 बजे थाना में एक निगरानी आपराधिक वाद संस्थित किया गया। प्रातः 8.50 बजे महानिरीक्षक द्वारा उप महानिरीक्षक श्री एस.बी. सहाय एवं श्री डी.पी. ओझा के साथ वाद पर विचार-विमर्श किया गया और डॉ. मिश्रा के पटना, बलुआ बाजार स्थित आवासों तथा उनके संबंधियों के घरों की तलाशी लेने का निर्णय किया गया। उसी दिन तलाशी वारंट जारी करने का अनुरोध किया गया और तलाशी वारंट जारी कर दिए गए। उसी दिन निरीक्षकगण शारदा नंदा सिंह, रघुबीर सिंह तथा रामदेहिया शर्मा को अपराध अनुसंधान विभाग से निगरानी विभाग में स्थानांतरित कराया गया।

आपराधिक वाद की संचिका जिस तेजी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर चली और जिस प्रकार आदेश प्राप्त किए गए, वह स्वयं यह संकेत करता है कि यह सब सार्वजनिक न्याय के उद्देश्य की पुष्टि के लिए नहीं किया गया था, बल्कि केवल अपनी व्यक्तिगत दुर्भावना को तुष्ट करने के लिए ही तत्कालीन मुख्यमंत्री द्वारा इतनी तीव्र रुचि प्रदर्शित की गई। साथ ही, अपीलकर्ता भी अपनी व्यक्तिगत एवं राजनीतिक प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर प्रत्याहरण के आवेदन का विरोध करता रहा। इन परिस्थितियों में यह संदेह उत्पन्न होता है कि क्या अपीलकर्ता वास्तव में जनहित का प्रतिनिधित्व कर रहा था।

यह कहना कि जब तक कथित रूप से किए गए अपराध स्वभावतः राजनीतिक अपराध न हों, अथवा राजनीतिक महत्वाकांक्षा या राजनीतिक विचारों से प्रेरित न हों, अथवा जन-आंदोलनों, सांप्रदायिक उन्माद या क्षेत्रीय विवादों के दौरान किए गए न हों, तब तक व्यापक सार्वजनिक न्याय, लोक-व्यवस्था अथवा शांति की सेवा का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकता—दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के व्यापक शब्दों पर एक अनुचित सीमा आरोपित करने के समान है।

लोक अभियोजक का यह मत था कि निर्वाचन के परिणामस्वरूप परिस्थितियों में परिवर्तन आ गया है, क्योंकि उत्तरदाता सं 2 की पार्टी को जनता का जनादेश प्राप्त हुआ और वह सत्ता में आई तथा उत्तरदाता सं 2 राज्य का मुख्यमंत्री बन गया। ऐसे में राज्य के कार्यपालिका प्रमुख के विरुद्ध अभियोजन का सार्वजनिक हित पर, जिसमें लोक-व्यवस्था और शांति भी सम्मिलित है, प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। इसलिए, उसने राज्य के कारणों और सार्वजनिक नीति के आधार पर वाद को आगे बढ़ाना अनुपयुक्त समझा। प्रत्याहरण के लिए आवेदन करने का विशिष्ट अधिकार लोक अभियोजक को ही प्रदान किया गया है, और यदि वह अपने विवेक से यह मानता है कि वाद को आगे बढ़ाना अनुपयुक्त होगा, तो न्यायालय उस विषय पर पुनः विचार कर लोक अभियोजक के निष्कर्ष से भिन्न अपना स्वतंत्र निष्कर्ष

नहीं निकाल सकता, जब तक कि न्यायालय इस निष्कर्ष पर न पहुँचे कि लोक अभियोजक ने यह कार्य किसी अनुचित, कपटपूर्ण अथवा परोक्ष उद्देश्य से किया है।

मेरे विचार में, लोक अभियोजक द्वारा प्रत्याहरण हेतु अपने आवेदन में बताए गए आधारों पर वाद से हटने का निर्णय किसी भी प्रकार से अनुचित या परोक्ष उद्देश्य से प्रेरित नहीं कहा जा सकता। उसने सद्भावपूर्वक यह विचार किया कि वाद की परिवर्तित परिस्थितियों में उसे आगे बढ़ाना अनुपयुक्त होगा और जहाँ दोषसिद्धि की संभावनाएँ अत्यंत क्षीण हैं, वहाँ वाद को खींचते रहना केवल सार्वजनिक धन और समय की निरर्थक बर्बादी होगी। ऐसी स्थिति में यह सार्वजनिक न्याय के उद्देश्य की पूर्ति करने के बजाय सार्वजनिक हित के प्रतिकूल ही होगा।

प्रत्याहरण का निर्णय लेने की वैधानिक जिम्मेदारी पूर्णतः लोक अभियोजक पर ही निहित है। यह दायित्व अविनिमेय है और इसे किसी अन्य के पक्ष में सौंपा या त्यागा नहीं जा सकता। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अंतर्गत आवेदन पर विचार करते समय न्यायालय का कर्तव्य यह नहीं है कि वह उन आधारों का पुनर्मूल्यांकन करे जिनके कारण लोक अभियोजक ने अभियोजन से प्रत्याहरण का अनुरोध किया है, बल्कि यह देखना है कि क्या लोक अभियोजक ने एक स्वतंत्र अभिकर्ता के रूप में, अप्रासंगिक, बाह्य अथवा परोक्ष विचारों से अप्रभावित होकर अपना मस्तिष्क लगाया है। इस संदर्भ में न्यायालय पर विशेष दायित्व है, क्योंकि अभियोजन से प्रत्याहरण के लिए सहमति प्रदान करने या न करने में वही विधायी विश्वास का अंतिम भंडार है। न्यायालय का दायित्व यह सुनिश्चित करना है कि न्याय की उन्नति के लिए अनुमति मांगी गई हो और वह न्याय के हित से असंबद्ध आधारों पर न हो।

लोक अभियोजक ने अपना मस्तिष्क लगाया, कांड दैनंदिनी तथा अन्य संबंधित सामग्रियों का अवलोकन किया और सार्वजनिक न्याय के हित में वाद से प्रत्याहरण करना उपयुक्त समझा।

न्यायालय ने भी प्रत्याहरण की अनुमति प्रदान करते समय एक कारणयुक्त आदेश पारित किया। उसके आदेश का प्रासंगिक अंश निम्नलिखित शब्दों में है :

> "उच्चतम न्यायालय द्वारा स्पष्ट की गई विधिक स्थिति तथा इस वाद के प्रभारी विशेष लोक अभियोजक द्वारा प्रस्तुत की गई दलीलों पर विचार करने के पश्चात्, और वाद के प्रासंगिक अभिलेखों का अवलोकन करने के बाद, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यह एक उपयुक्त वाद है जिसमें विद्वान विशेष लोक अभियोजक द्वारा अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु की गई प्रार्थना स्वीकार की जानी चाहिए, और अतः उसे स्वीकार किया जाता है।"

सामान्यतः न्यायालय द्वारा किया गया यह कथन कि उसने वाद के प्रासंगिक अभिलेखों का अवलोकन किया है, तब तक सही माना जाना चाहिए जब तक इसके विपरीत यह मानने हेतु कोई अत्यंत सशक्त आधार प्रस्तुत न किया जाए कि उसने ऐसा नहीं किया, और न्यायालय द्वारा किया गया यह घोषित कथन असत्य है। इसी प्रकार की स्थिति में इस न्यायालय ने *सी. मोहापात्रा के वाद* (उपर्युक्त) में निम्नलिखित अवलोकन किया था :

> "... अभियोजन के अनुसार, अनुसंधान के दौरान संकलित साक्ष्य उत्तरदाता के विरुद्ध आरोप को बनाए रखने के लिए पर्याप्त नहीं थे, और विद्वान दंडाधिकारी अभियोजन के उप-निरीक्षक द्वारा किए गए इस कथन की सत्यता से संतुष्ट थे। हमारे लिए यह समझना कठिन है कि उच्च न्यायालय अपने आदेश में यह कैसे कह सकता है कि दंडाधिकारी ने कांड दैनंदिनी का अवलोकन नहीं किया, जबकि स्वयं विद्वान दंडाधिकारी ने अपने आदेश में स्पष्ट रूप से कहा है कि उसने कांड दैनंदिनी पढ़ी थी और उसे पढ़ने के बाद ही वह इस मत पर

पहुँचा था कि अभियोजन का यह कथन कि साक्ष्य अपर्याप्त हैं, निराधार नहीं था।"

अपीलकर्ता की ओर से यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि कांड दैनंदिनी न्यायालय के पास नहीं थी और वह कहीं और रखी हुई थी, और इसलिए न्यायालय उसे देख ही नहीं सकता था तथा उसका यह कथन पूर्णतः सही नहीं है। न्यायालय द्वारा किए गए उपर्युक्त अवलोकनों के प्रकाश में इस तर्क को उसके शब्दार्थ पर स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अब मैं वाद से प्रत्याहरण हेतु आवेदन के आधार सं. (क) पर विचार करता हूँ। यह आधार साक्ष्यों के आलोक में अभियोजन की सफलता की संभावना के अभाव से संबंधित है। अपीलकर्ता के अधिवक्ता का यह तर्क है कि वर्तमान वाद में उपलब्ध दस्तावेजी साक्ष्यों के आधार पर, जिन पर कोई विवाद नहीं है, भारतीय दंड संहिता की धारा ४६६ तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5(1)(घ) के अंतर्गत अपराध *प्रथम दृष्टया* सिद्ध होता है, और इसलिए लोक अभियोजक इस आधार पर प्रत्याहरण हेतु आवेदन प्रस्तुत करने में न्यायोचित नहीं था। उन्होंने एक आदेश की पूर्व-तिथि निर्धारण की ओर संकेत किया। डॉ. जे. एन. मिश्रा, उत्तरदाता सं. 2, मुख्यमंत्री बनने के पश्चात् अपने हस्तलेख में दिनांक 16 मई 1975 को हिंदी में एक आदेश पारित करते हैं, जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद नीचे दिया गया है :

"काफी समय बीत चुका है। संचिका के अवलोकन से प्रतीत होता है कि बैंक के अध्यक्ष एवं निदेशक मंडल के सदस्यों के विरुद्ध गबन का कोई आरोप नहीं है। ऋणग्राहियों से ऋण की वसूली हेतु कड़ा कदम उठाया जाए और यदि ऋणग्राहियों से वसूली में कठिनाई हो तो निदेशक मंडल के विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियाँ आरंभ की जाएँ। वार्षिक आम सभा बुलाकर तथा निर्वाचन कराकर बैंक में सामान्य स्थिति बहाल की जाए।

हस्ताक्षर/– जगन्नाथ मिश्रा

16.5.1975।"

प्रतीत होता है कि इस आदेश को बाद में हिंदी में ही पारित एक अन्य आदेश से प्रतिस्थापित कर दिया गया, जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद इस प्रकार है :

> "वार्षिक आम सभा आयोजित कर सामान्य स्थिति बहाल करने हेतु आदेश निर्गत किए जाएँ।

हस्ताक्षर/– जगन्नाथ मिश्रा

16.5.1975।"

दिनांक 16 मई 1975 के आदेश के ऊपर उक्त आदेश को चिपकाकर तथा बाद वाले आदेश की तिथि को 14 मई 1975 पूर्व-तिथि कर देने से, विद्वान अधिवक्ता के मत में यह स्पष्ट रूप से भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5 (1) (घ) के अंतर्गत आपराधिक दुराचार तथा भारतीय दंड संहिता की धारा 466 के अंतर्गत जालसाजी का अपराध बनता है। इस विषय पर विस्तृत तर्क प्रस्तुत किए गए कि दिनांक 16 मई 1975 के आदेश के ऊपर किसी पत्रात्मक आदेश को चिपकाना अपने-आप में संदेह उत्पन्न करता है। यह कहा गया कि यह डॉ. जे. एन. मिश्रा द्वारा अपनाई गई एक असामान्य विधि थी, जिसके द्वारा पूर्व आदेश को मिटाकर उसी विषयवस्तु के एक अन्य आदेश से प्रतिस्थापित किया गया, किंतु उसे 14 मई 1975 की तिथि देकर पूर्व आदेश के ऊपर चिपका दिया गया। हालाँकि, बिहार सरकार के सचिवालय में पूर्व आदेश के ऊपर नया आदेश चिपकाकर प्रतिस्थापन करना एक सुविख्यात एवं स्वीकृत प्रथा प्रतीत होती है, और विद्वान न्यायाभिकर्ता श्री के. परासरन ने ऐसे अनेक समान आदेश प्रदर्शित किए, जिनमें इसी विधि द्वारा पूर्व आदेशों को नए आदेशों से प्रतिस्थापित किया गया था। अतः इस तर्क का वह भाग, समान विधि से पारित अन्य आदेशों के परीक्षण के उपरांत, अपना समस्त बल खो देता है। किन्तु वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार बाद वाले आदेश को 14.5.1975 की तिथि देकर, पूर्व आदेश के ऊपर

चिपकाने से, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5 (1) (घ) के अर्थ में आपराधिक दुराचार तथा भारतीय दंड संहिता की धारा 466 के अर्थ में जालसाजी का अपराध बनता है या नहीं। जहाँ तक इस वाद के प्रयोजन के लिए प्रासंगिक है, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5 (1) (घ) इस प्रकार है :

> "5. (1) कोई लोक सेवक आपराधिक दुराचार का अपराध तब करता हुआ कहा जाएगा—
>
> (क) ....
>
> (ख) ....
>
> (ग) ....
>
> (घ) यदि वह भ्रष्ट या अवैध साधनों द्वारा अथवा लोक सेवक के रूप में अपने पद का दुरुपयोग करके अपने लिए या किसी अन्य व्यक्ति के लिए कोई मूल्यवान वस्तु या आर्थिक लाभ प्राप्त करता है।"

अपीलकर्ता की ओर से यह तर्क दिया गया है कि दिनांक 16 मई 1975 के आदेश में परिवर्तन कर, उत्तरदाता सं. 2 ने उत्तरदाता सं. 3 नवल किशोर सिन्हा को आर्थिक लाभ पहुँचाया, क्योंकि दूसरे आदेश को पूर्व-तिथि देकर उत्तरदाता सं. 2 ने नवल किशोर सिन्हा को अधिभार कार्यवाहियों से मुक्त कर दिया। आदेश में पेनहीं है। इन परिस्थितियों में लोक अभियोजक का यह निष्कर्ष निकालना कि उत्तरदाता सं. 2 के दोषसिद्ध होने की कोई संभावना नहीं है, न्यायोचित नहीं था।

मुझे खेद है कि यह तर्क स्पष्ट कारणों से स्वीकार नहीं किया जा सकता। दिनांक 16 मई 1975 का पूर्व आदेश निस्संदेह चार बातों का विचार करता था :

> (1) बैंक के अध्यक्ष एवं निदेशक मंडल के सदस्यों के विरुद्ध गबन का कोई आरोप नहीं है;

(2) ऋणग्राहियों से ऋण की वसूली हेतु कठोर कार्रवाई की जानी चाहिए;

(3) यदि ऋणग्राहियों से वसूली में कठिनाई हो तो निदेशक मंडल के विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियाँ आरंभ की जानी चाहिए; तथा

(4) वार्षिक आम सभा बुलाकर एवं निर्वाचन कराकर बैंक में सामान्य स्थिति बहाल की जानी चाहिए।

दूसरे आदेश द्वारा, जिसे पूर्व-तिथि किया गया बताया गया है, आदेश का केवल चौथा भाग ही बनाए रखा गया है। बाद वाले आदेश की तिथि 14 मई 1975 अंकित कर उसे पूर्व-तिथि देने का कोई भी युक्तिसंगत कारण प्रतीत नहीं होता। मंत्री के लिए यह सदैव खुला था कि वह अपने आदेश में परिवर्तन करे और एक नया आदेश पारित करे। यदि वास्तव में उत्तरदाता सं. 2 का उद्देश्य उत्तरदाता सं. 3 को दायित्व से मुक्त करना था, तो वही उद्देश्य 16 मई 1975 को ही पूर्व आदेश के स्थान पर पश्चातवर्ती आदेश पारित करके भी पूरा किया जा सकता था। बल्कि, यदि कोई उद्देश्य था भी, तो उत्तरदाता सं. 2 का वह उद्देश्य दूसरे आदेश की तिथि 16 मई 1975 अथवा किसी बाद की तिथि रखकर अधिक अच्छी तरह पूरा किया जा सकता था। दूसरे, 14 मई 1975 दिनांकित दूसरा पूर्व-तिथि आदेश, बैंक के उत्तरदाता सं. 3 तथा निदेशक मंडल के अन्य सदस्यों के विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियाँ आरंभ किए जाने में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं बन सकता था। जहाँ तक ज्ञात है, 14 मई 1975 की तिथि किसी आकस्मिक त्रुटि के कारण भी अंकित हो सकती है। विद्वान न्यायाभिकर्ता द्वारा सुझाया गया दूसरा कारण यह है कि अधिभार कार्यवाहियाँ केवल बिहार एवं उड़ीसा सहकारी समितियाँ अधिनियम, 1935 की धारा 40 के अंतर्गत सहकारिता विभाग द्वारा ही आरंभ की जा सकती थीं। उक्त धारा इस प्रकार है :

"40. जब धारा 33 के अधीन लेखा-परीक्षा अथवा धारा 35 के अधीन जाँच, या धारा 34, 36 अथवा 37 के अधीन निरीक्षण, या

किसी समिति के परिसमापन के परिणामस्वरूप यह प्रतीत हो कि किसी व्यक्ति ने, जिसने समिति के संगठन या प्रबंधन में भाग लिया हो, या समिति के किसी भूतपूर्व या वर्तमान पदाधिकारी ने, खंड (क), (ख), (ग) अथवा (घ) में उल्लिखित किसी कार्य या चूक का दोष किया है, तो रजिस्ट्रार ऐसे व्यक्तियों या पदाधिकारियों के आचरण की जाँच कर सकता है और उन्हें सुनवाई का अवसर प्रदान करने के पश्चात् अधिभार का आदेश पारित कर सकता है।"

अतः सहकारी समितियाँ अधिनियम की धारा 40 के उपर्युक्त प्रावधानों को दृष्टिगत रखते हुए, अधिभार के लिए कदम उठाना राज्य की कार्यपालिका के अधिकार-क्षेत्र के भीतर नहीं है। यदि ऐसा हो, तो यह बैंक के पदाधिकारियों के विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियाँ त्यागने का एक और कारण हो सकता था। एक और कारण भी है। दूसरा पूर्व-तिथि आदेश, पूर्व आदेश में उत्तरदाता सं. 2 द्वारा निर्देशित अधिभार कार्यवाहियाँ त्यागने के संबंध में एक शब्द भी नहीं कहता है, और इसलिए यह कहना कठिन है कि उत्तरदाता सं. 2 ने वास्तव में उत्तरदाता सं. 3 तथा सहकारी बैंक के अन्य पदाधिकारियों के विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियाँ समाप्त कर दी थीं। वास्तव में, अधिभार कार्यवाहियाँ आरंभ की जा चुकी थीं। अधिभार वाद सं. 3 सन् 1975 से संबंधित अधिभार संचिकाएँ यह सिद्ध करती हैं कि अधिभार कार्यवाहियाँ प्रारंभिक रूप से 30 अप्रैल 1975 को उप-पंजीयक द्वारा प्रस्तावित की गई थीं और वास्तव में 1 जुन 1975 को की गईं, तथा कारण बताओ सूचना 1 जुलाई 1975 को जारी की गई और 31 दिसंबर 1975 को श्री नवल किशोर सिन्हा एवं अन्य के विरुद्ध अधिभार आदेश पारित किया गया। इससे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि 14 मई 1975 के आदेश द्वारा नवल किशोर सिन्हा या अन्य को कोई लाभ या लाभांश प्रदान नहीं किया गया। उत्तरदाता सं. 4 जिवानन्द झा के शपथपत्र से प्रतीत होता है कि ₹33,96,024.90 की राशि 180 व्यक्तियों को ऋण के रूप में दी गई थी। ऋण के रूप में दी गई कुल राशि में से ₹25,64,682.23 की राशि पहले ही 106

व्यक्तियों से वसूल की जा चुकी है। अवसूलित राशि केवल ₹8,31,337.67 है, जिसके लिए 64 व्यक्तियों के विरुद्ध डिक्री पारित की जा चुकी है और शेष 10 व्यक्तियों के विरुद्ध वसूली की कार्यवाहियाँ जारी हैं।

भारतीय दंड संहिता की धारा 466 के अंतर्गत जालसाजी के अपराध के संबंध में भी मेरे मन में गंभीर संदेह हैं। जालसाजी को धारा 463 के अंतर्गत "किसी झूठे दस्तावेज़ का निर्माण करना" के रूप में परिभाषित किया गया है। झूठे दस्तावेज़ का निर्माण धारा 464 में परिभाषित है। अपीलकर्ता के विद्वान अधिवक्ता के अनुसार वर्तमान वाद उस स्थिति के अंतर्गत आता है, जिसमें "कोई व्यक्ति बेईमानी से या धोखाधड़ीपूर्वक कोई दस्तावेज़ या दस्तावेज़ का कोई भाग ऐसे समय पर बनाता है, जब वह जानता है कि वह बनाया गया, हस्ताक्षरित, मुहरबंद या निष्पादित नहीं किया गया था।" "बेईमानी से" शब्द को भारतीय दंड संहिता की धारा 24 में इस प्रकार परिभाषित किया गया है— "जो कोई किसी व्यक्ति को अनुचित लाभ पहुँचाने या किसी अन्य व्यक्ति को अनुचित हानि पहुँचाने के आशय से कोई कार्य करता है, वह उस कार्य को 'बेईमानी से' करता हुआ कहा जाता है।" "धोखाधड़ीपूर्वक" शब्द को धारा 25 में इस प्रकार परिभाषित किया गया है— "कोई व्यक्ति तब किसी कार्य को धोखाधड़ीपूर्वक करता हुआ कहा जाता है, जब वह उस कार्य को धोखा देने के आशय से करता है, अन्यथा नहीं।" अपीलकर्ता की ओर से उठाया गया सटीक तर्क यह है कि उत्तरदाता सं. 2 ने पूर्व में पारित आदेश में परिवर्तन किया, इस आशय से कि बैंक को अनुचित हानि पहुँचे, क्योंकि पारित आदेश के परिणामस्वरूप अधिभार कार्यवाहियाँ प्रत्याहृत कर दी गईं।

अभिलेख पर उपलब्ध सामग्री के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर संतुष्ट नहीं हूँ कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5 (1) (घ) तथा भारतीय दंड संहिता की धारा 466 के अंतर्गत जालसाजी का कोई *प्रथम दृष्टया* मामला बनता है।

तथ्यों के अनेक पहलू होते हैं। यदि लोक अभियोजक का दृष्टिकोण ऐसा है, जो परिस्थितियों में किसी भी विवेकशील व्यक्ति द्वारा अपनाया जा सकता था, तो न्यायालय

अपनी राय को लोक अभियोजक की राय के स्थान पर प्रतिस्थापित नहीं कर सकता। यदि लोक अभियोजक ने प्रासंगिक सामग्री पर अपना मन लगाया है और उसकी राय विकृत नहीं है तथा ऐसी है, जिस तक कोई विवेकशील व्यक्ति पहुँच सकता था, तो अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्यों और सामग्रियों में यह जाँच करने के उद्देश्य से कि उसके निष्कर्ष सही थे या गलत, एक भटकती हुई जाँच करना असंगत होगा। ऐसा करना वस्तुतः इस न्यायालय को निर्णय पर बैठी एक अपील न्यायालय में परिवर्तित कर देगा।

अपीलकर्ता के विद्वान अधिवक्ता द्वारा उठाया गया यह तर्क कि लोक अभियोजक श्री लल्लन प्रसाद सिन्हा प्रत्याहरण के लिए आवेदन करने में सक्षम नहीं थे, मेरे भ्रातृ न्यायाधीशों तुलजापुरकर तथा बहारुल इस्लाम द्वारा स्वीकार नहीं किया गया है, और मैं आदरपूर्वक उनसे सहमत हूँ।

यदि लोक अभियोजक का यह मत था कि परिस्थितियों में अभियोजन की निरंतरता केवल निरर्थक अभ्यास में ही परिणत होगी, तो वह प्रत्याहरण हेतु आवेदन प्रस्तुत करने में पूर्णतः उचित थे। एकमात्र प्रश्न यह है कि क्या उन्होंने अपना मन लगाया और क्या वे किसी अप्रासंगिक विचार या अनुचित उद्देश्य से प्रेरित नहीं थे। अपीलकर्ता की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि लोक अभियोजक ने सरकार के कहने पर कार्य किया और उन्होंने अपना स्वतंत्र मन नहीं लगाया। इस संदर्भ में सरकार द्वारा लोक अभियोजक को भेजे गए पत्र का उल्लेख किया गया। उक्त पत्र यह संकेत नहीं देता कि सरकार चाहती थी कि वे वाद को आगे न बढ़ाएँ; बल्कि उस पत्र ने लोक अभियोजक को अपना स्वतंत्र मन लगाने और अपने स्वयं के निष्कर्ष पर पहुँचने की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की। इस न्यायालय के विभिन्न प्राधिकारों के प्रकाश में, सरकार या उच्च अधिकारी से परामर्श करना अनुचित नहीं है। किंतु लोक अभियोजक को अभियोजन से प्रत्याहरण के निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व वाद के तथ्यों और परिस्थितियों पर अपना स्वतंत्र मन अवश्य लगाना होता है। अभिलेख पर उपलब्ध

सामग्री से मैं इस निष्कर्ष पर संतुष्ट हूँ कि लोक अभियोजक ने अपना स्वतंत्र मन लगाया और अपने स्वयं के निष्कर्ष पर पहुँचे।

अंतिम, किंतु महत्व की दृष्टि से कम नहीं, अपीलकर्ता की ओर से उठाया गया यह बिंदु था कि अभियोजन के लिए अनुमोदन तत्कालीन मुख्यमंत्री अब्दुल गफूर द्वारा पहले ही प्रदान कर दिया गया था और परिवाद दायर किया जाना था, किंतु उसे इस कारण स्थगित कर दिया गया कि उसी समय उत्तरदाता सं. 2 ने बिहार के मुख्यमंत्री के रूप में पदभार ग्रहण कर लिया। तर्क यह है कि, प्रथम, उन्होंने परिवाद दायर किए जाने में विलंब कराने का प्रयास किया; और द्वितीय, उन्होंने उत्तरदाता सं. 2 श्री जगन्नाथ मिश्रा सहित बैंक के पदाधिकारियों के विरुद्ध अभियोजन न किए जाने का आदेश दिया।

उत्तरदाता की ओर से दी गई तिथियों संबंधी टिप्पणियों से यह प्रतीत होता है कि संचिका उत्तरदाता सं. 2, मुख्यमंत्री के पास इसलिए गई क्योंकि इससे पूर्व 1 जनवरी 1975 की एक टिप्पणी श्री ओमेश प्रसाद वर्मा द्वारा की गई थी कि मुख्यमंत्री भी इसे देखना चाहेंगे। सहकारिता मंत्रालय में श्री आर. के. श्रीवास्तव द्वारा 31 जनवरी 1975 को की गई एक और टिप्पणी इस प्रकार थी—

> "मुख्यमंत्री तथा विधि मंत्री ने परिवाद वास्तव में दायर किए जाने से पूर्व संचिका देखने की इच्छा व्यक्त की है। उनके निर्देशानुसार संचिका अतिरिक्त लोक अभियोजक से वापस मंगाई गई है। उपर्युक्त परिस्थितियों में विधि मंत्री तथा मुख्यमंत्री परिवाद दायर किए जाने के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान करना चाहेंगे।"

श्री आर. के. श्रीवास्तव की 27 जनवरी 1975 की एक बाद की टिप्पणी निम्नलिखित शब्दों में है—

> "मुख्यमंत्री ने यह इच्छा व्यक्त की है कि यदि उक्त परिवाद दायर नहीं किया गया है, तो वह तब तक प्रतीक्षा करे जब तक वे

संचिका देख न लें। कृषि मंत्री से भी एक अन्य बफ शीट प्राप्त हुई है। संचिका कृपया वापस मंगाई जाए और परिवाद दायर किया जाना मुख्यमंत्री की आगे की स्वीकृति तक स्थगित रखा जाए।"

यह प्रतीत होता है कि उस समय तक पूर्व मुख्यमंत्री को डॉ. जे. एन. मिश्रा द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया था। इन्हीं परिस्थितियों में संचिका पूर्व मुख्यमंत्री श्री अब्दुल गफूर की पूर्व इच्छा के अनुसरण में, मुख्यमंत्री के रूप में उत्तरदाता सं. 2 के पास भेजी गई और उन्होंने निम्नलिखित आदेश पारित किए—

"पटना शहरी सहकारी बैंक के कुछ ऋणग्राहियों से धन की वसूली के लिए उनके विरुद्ध आपराधिक वाद संस्थित किए गए थे। जिन ऋणग्राहियों ने ऋण की राशि पूर्ण रूप से चुका दी है, उनके विरुद्ध वादों के प्रत्याहरण हेतु तत्काल कार्रवाई की जानी चाहिए और जो ऋणग्राही ऋण चुकाना चाहते हैं किंतु वित्तीय अक्षमता के कारण एकमुश्त भुगतान करने में असमर्थ हैं, उनके लिए ऋण भुगतान की उपयुक्त किश्तें निर्धारित की जानी चाहिए और तत्पश्चात आवश्यक आगे की कार्रवाई की जानी चाहिए।"

इन परिस्थितियों में यह नहीं कहा जा सकता कि उत्तरदाता सं. 2 आपराधिक कार्यवाहियों में बाधा उत्पन्न करने के उद्देश्य से कार्य कर रहे थे।

इस तथ्य की अनदेखी नहीं की जा सकती कि यदि अभियोजन का आदेश दिया जाता, तो वह लगभग आठ वर्ष के अंतराल के बाद प्रारंभ होता। निर्णय के पूर्ववर्ती भाग में मेरे द्वारा ग्रहण किए गए दृष्टिकोण के अनुसार, मेरी राय में भारतीय दंड संहिता की धारा 466 तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5 (1) (घ) के अंतर्गत कोई *प्रथम दृष्टया* मामला निर्मित नहीं होता है; और यह तथ्य भी कि पुनरीक्षण में उच्च न्यायालय ने विशेष न्यायाधीश के उस दृष्टिकोण से सहमति व्यक्त की है, जिसमें दंड प्रक्रिया संहिता की धारा

321 के अंतर्गत लोक अभियोजक के आवेदन पर अभियोजन से प्रत्याहरण के लिए सहमति प्रदान की गई थी—इन परिस्थितियों में यह न्यायालय साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन कर किसी भिन्न निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता। इस न्यायालय को केवल यह देखना है कि लोक अभियोजक ने अभियोजन से प्रत्याहरण के लिए आवेदन प्रस्तुत करते समय किसी अप्रासंगिक या अनुचित विचार से प्रेरित होकर कार्य नहीं किया। यद्यपि अभियोजन से प्रत्याहरण के लिए आवेदन प्रस्तुत करते समय लोक अभियोजक द्वारा ग्रहण किए गए दृष्टिकोण से भिन्न कोई अन्य दृष्टिकोण संभव हो सकता है, तथापि जब तक यह निष्कर्ष न निकले कि लोक अभियोजक ने वाद के तथ्यों और परिस्थितियों पर अपना मन नहीं लगाया और केवल सरकार के कहने पर कार्य किया है अथवा किसी अप्रासंगिक या अनुचित विचार से प्रेरित हुआ है, तब तक इस न्यायालय को आदेश में हस्तक्षेप करने से संकोच करना चाहिए। वाद के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर मेरे लिए यह कहना संभव नहीं है कि लोक अभियोजक किसी कुटिल या अनुचित उद्देश्य से प्रेरित थे।

मेरे इस निष्कर्ष के आलोक में कि उत्तरदाता सं. 2 एवं अन्य के विरुद्ध आपराधिक वाद कुछ असंतुष्ट राजनीतिक नेताओं के कहने पर व्यक्तिगत अथवा राजनीतिक प्रतिशोध के कारण संस्थित किया गया था; कि अभिलेख पर उपलब्ध सामग्री के आधार पर जालसाजी अथवा दुराचार का कोई *प्रथम दृष्टया* मामला नहीं बनता; कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 के अंतर्गत आवेदन पर विचार करते समय न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र केवल यह देखने तक सीमित है कि क्या लोक अभियोजक ने सार्वजनिक न्याय के हित में अभियोजन से प्रत्याहरण हेतु आवेदन किया है अथवा उसने यह कार्य किसी अनुचित या कुटिल उद्देश्य से किया है; कि ऋण की एक पर्याप्त राशि पहले ही वसूल की जा चुकी है; कि इस वाद की परिस्थितियों में आपराधिक वाद की निरंतरता केवल सार्वजनिक धन और समय की कीमत पर एक निरर्थक अभ्यास होगी; तथा कि विचारण न्यायालय एवं उच्च न्यायालय, दोनों ही लोक अभियोजक द्वारा बताए गए प्रत्याहरण के आधारों से संतुष्ट थे—इन सभी कारणों से, मेरे

मत में विचारण न्यायालय तथा उच्च न्यायालय द्वारा ग्रहण किया गया दृष्टिकोण किसी भी प्रकार की त्रुटि से ग्रस्त नहीं है और एक न्यायसंगत एवं उपयुक्त दृष्टिकोण है।

उपर्युक्त कारणों से अपील असफल होती है और तदनुसार खारिज की जाती है।

एस. आर. *अपील स्वीकृत।*

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नही किया जा सकता। समस्त व्यावहारिक, कार्यालयीय, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।